प्रकाशक
गोकुलदास धूत
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर ।

दूसरी बार : १९४७
मूल्य
साढ़े तीन रुपए

301

मुद्रक
अमरचंद्र
राजहंस प्रेस,
दिल्ली, ३९-४७ ।

पूजनीया स्वर्गीय
जीजी को
जिसकी गोद में मैंने
अहिंसा का दूध
पिया

संस्मरण इसी दृष्टि से पाठकों के सामने रखने योग्य मालूम होते हैं कि मैंने अपने जीवन में भावना-शुद्धि व साधना-शुद्धि का सबसे ज्यादा खयाल रखा है। हम किसी भी क्षेत्र में काम करें—अपना जीवन हमें एक 'साधना' ही मानना चाहिए। क्योंकि जैसी हमारी साधना होगी वैसी ही सिद्धि की हम आशा रख सकते हैं। हम जीवन को गलत रास्ते पर ले जायं व अपने कार्यों में सही परिणाम की आशा रखें तो यह मूर्खता ही हो सकती है। इस 'साधना के पथ पर' चलते हुए मनुष्य को अनेक खट्टे-मीठे-कडुवे अनुभव होते हैं। वे उसके तथा जगत् के लिए भी उपयोगी होते हैं, यदि वे साधक की नम्रता में देखे-परखे व पेश किये गए हों। इन अनुभवों को पाठक इसी दृष्टि से देखने व इनसे लाभ उठाने की कृपा करें। मैंने तो इन्हें भरसक तटस्थ भाव से ही लिखा है।

दूसरे संस्करण में यत्र-तत्र संशोधन किये हैं। जिन-जिन मित्रों ने इन्हें पसंद किया है, व जिन्होंने सुझाव दिये हैं उन सबको हार्दिक धन्यवाद।

महिला-शिक्षा-सदन,
गांधी आश्रम, हटुंडी
स्वतन्त्रता-दिवस
(१५ अगस्त १९४७)

हरिभाऊ उपाध्याय

पाठकों से

मैंने इन संस्मरणों का नाम रखा था—'अहिंसा के अनुभव'। भाई वैजनाथजी महोदय[1] ने सुझाया—'साधना के पथ पर'। यह नाम मुझे पहले वाले से अच्छा लगा। परन्तु मूल प्रकरण लिखे गये हैं अहिंसा के अनुभव-सम्बन्धी। अतः मैंने दोनों नाम मंजूर कर लिये। पहले नाम में मेरी निगाह पाठक पर, दुनिया पर थी; दूसरे में खुद अपने पर रहती है। 'साधना के पथ पर' नाम सुझाने में भाई वैजनाथजी का क्या आशय रहा होगा, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर मुझे उससे यह बोध मिला—मनुष्य को दुनिया की बनिस्बत अपनी तरफ ज्यादा देखना चाहिए। जब मैं अपनी तरफ देखता हूं तो यह हाड़-मांस का पुतला तो बेकार-सा लगता है; शरीर में ऐसा रोग घुस गया है कि न जीने का रहा, न मरने का। कभी भी मौत आ जाय तो मरने की तैयारी तो है; पर जीने का लोभ अभी लगा ही हुआ है। इस जीर्ण-शीर्ण ढांचे का भी कुछ उपयोग मालूम होता रहता है। आखिर हम इस मरने-जीने के प्रश्न के झंझट में पड़ें ही क्यों? जब तक इस ढांचे का दुरुपयोग नहीं होता है, इससे सहसा कोई बुरा काम नहीं होता है तब तक मौत की भी इच्छा क्यों की जाय? न मौत को चाहा जाय, न उससे डरा जाय। इस विचार से अन्त को समाधान हो जाता है। ढांचा आखिर तो प्रभु का मन्दिर है। जीवात्मा इसी के द्वारा तो अपनी गति-मुक्ति साधता व साध सकता है, तो फिर इसे इतना तुच्छ भी क्यों समझा जाय? जहां तक बने, इसे साफ-सुथरा, काम के लायक बनाये रखने का यत्न किया जाय। जिस दिन काल-परमात्मा इसे अनावश्यक समझे उस दिन इसे जहां-का-तहां रख दिया जाय। फिर संसार की भलाई यदि आज तक कुछ हुई है, तो वह भी इन ढांचों के ही द्वारा। अतः व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियों से यह ढांचा नगण्य नहीं समझा जाना चाहिए। यह उस अवस्था में जरूर चिन्ता, घृणा व परित्याग के योग्य बन जाता है जब

---

1 इन्दौर राज्य के नेता, मेरे अभिन्न साथी।

इसके प्रभु को भुलाकर, समष्टि के प्रति अपने सम्बन्ध व कर्त्तव्य को ताक पर रखकर, इसे स्वार्थ-सिद्धि, भोग-विलास, आमोद-प्रमोद, व दुराचार-अत्याचार का साधन बना लिया जाता है। मैं इस विषय में जागरूक व सावधान हूं, फिर यह शरीर चाहे बहुत उपयोगी न हो, पर अभी बिलकुल बेकार होने की अवस्था में भी नहीं पहुंचा है, अतः इसे टिकाये रखना बुरा नहीं मालूम हो रहा है।

इस ढांचे का विचार छोड़ दें व इसके निवासी, इसके मालिक, का विचार करें तो फिर व्यष्टि व समष्टि ये दो अलग नहीं रह जाते। 'साधना के पथ पर' यह व्यष्टि-प्रधान, अपनी तरफ इशारा करने वाला, नाम रखा तो क्या, व 'अहिंसा के अनुभव' यह समष्टि-प्रधान, पाठकों को कुछ देने की इच्छा सूचित करने वाला नाम रखा तो क्या, एक ही बात है। जीव कुछ-न-कुछ करता ही रहता है वह अपने मूलरूप को न भूलकर जो कुछ भी करता है व करेगा वह सब शुभ व जायज ही होगा। जीव जब यह भूल जाता है कि मैं विशुद्ध परमात्मा का एक अंश हूं, व इस जड़ देह के ढांचे में अपनेपन को खतम कर देता है; तभी वह अपने व समाज के लिए दूषित व भयंकर हो जाता है, तभी उसकी चिंता क्रिया सब शोचनीय हो जाती है। अतः यदि मनुष्य अपने ढांचे व उसके स्वामी—जीवात्मा—को इस पृथक्ता को समझकर शरीर की अपेक्षा सदैव आत्मा की आवश्यकता का ध्यान रखे, तो फिर उसकी दृष्टि अपनी ओर रही क्या व जगत् की ओर रही क्या, दोनों एक ही बात है। लेकिन यह जागृति मनुष्य में प्रायः नहीं रहती, अतः मनुष्य को दूसरों को देने के चक्कर में पड़ने की अपेक्षा यही ज्यादा उचित है कि खुद प्राप्त करता रहे, अपने-आपको साधता रहे। यदि जगत् को कुछ देने की इच्छा हो भी तो इसलिए कि जगत् से बहुत-कुछ लिया है, व लेते रहते हैं तो उसे देना अपना कर्तव्य है, कर्ज उतारना जरूरी है। इसलिए नहीं कि जगत् पर कोई अहसान करना है।

ये 'अहिंसा के अनुभव' इसी कर्त्तव्य-भावना या ऋण चुकाने की

विषय-सूची

साधना के पथ पर

: १ :

आरम्भ

कई बार कई जगह मित्रों ने कहा कि मैं अपने अनुभव लिखूं। तब मेरा मन कहता—'क्या पिद्दी व क्या पिद्दीका शोरबा'। पर एक बार कोटा-यात्रा में प्रिय ईश्वरलाल ने सहज भाव से कहा—आप अपने जीवन-संस्मरण क्यों न लिखें? मेरे मुंह से भी यों ही झट से निकल गया—'हां, लिख तो सकता हूं!' दूसरे ही दिन वे सुबह स्टेशन पर आ पहुंचे और ट्रेन के चलते-चलते कहा—'तो मुझे जो वादा किया था वह याद है न! मैं आपसे मांगता हूं कि आप अपने जीवन-संस्मरण लिखें। मुझे निमित्त बनाकर ही लिखें।'

मैं तो उस पहली बातचीत को उसी समय भूल गया था। मैं कौन ऐसा बड़ा आदमी हूं, या कौन से ऐसे बड़े काम किये हैं, जो अपने संस्मरण लिखूं। मेरे अनुभव भी क्या, व उनका मूल्य भी क्या?

मैंने उनसे कहा—भाई मुझे बड़ी हिचक है। अव्वल तो मैं इस योग्य नहीं, दूसरे यह काम विकट है और संकट से खाली नहीं। इसमें ऐसी घटनाओं व व्यक्तिगत सम्बन्धों का जिक्र लाजिमी होगा जिनमें खतरा है। उन्होंने कहा—तो सच बात क्यों न लिखी जाय? मैंने जवाब दिया—सभी सच तो, खासकर दूसरों के बारे में, प्रकाशनीय नहीं होता है और समय-असमय भी तो देखना होता है? निराशा व दुःख उनके चेहरे पर झलक रहा था। मुझे उनका भाव मानो यह कहता हुआ दिखाई दिया—सच कहने में यह हिचक क्यों? यह तो हिम्मत की कमी है।

'हिम्मत की कमी है' यह भाव मेरे मन में बड़ी देर तक घूमता रहा।

विदा होते-होते फिर उन्होंने कहा—'तो लिखेंगे न?' गाड़ी चलने लगी थी। मैंने जवाब दिया–'तुम मुझसे प्रश्न पूछो। मैं उत्तर लिखता रहूंगा। तुम्हें अच्छे लगें तो छपा देना।'

क्या सचमुच मुझमें कोई विशेषता है, जो जीवन-संस्मरण लिखूं? आखिर संस्मरण कौन-से लिखूं? मुझे अक्सर यह अनुभव होता है कि मैं बिलकुल खोखला हूं, विशेषता तो दर-किनार, मुझमें कोई योग्यता भी नहीं। हां, कई बार यह भी अनुभव होता है कि कोई आकर्षक चीज मुझमें है जरूर; जब मैं इस चीज को टटोलने लगता हूं तो 'स्नेह व सौजन्य' के सिवा कोई बात हाथ नहीं लगती। जब अपनी कमियों व कमजोरियों का विचार मन में आता है तब भी 'स्नेह व सौजन्य' तो सामने से हटते ही नहीं। यह मुझे अहिंसा का ही प्रतिरूप मालूम होता है। अहिंसा की भावना मुझे अपने खून में सनी हुई मालूम होती है। उसमें मुझे जरा भी परायेपन का अनुभव नहीं होता। बापू में मेरी इतनी आसक्ति का यही मूल कारण लगता है। उनका सत्य मुझे अपने सामने खड़ा दिखाई देता है, पर अहिंसा मुझसे लिपटी-चिपटी मालूम देती है। अपने जीवन में मुझे अहिंसा के उत्तरोत्तर–कुछ जान में व कुछ अनजान में–विकास की एक रेखा दीखती है। जिन घटनाओं में वह रेखा दीखती है, जो अनुभव उसके दायें-बायें होते गए हैं, जो आघात-प्रतिघात हुए हैं, उसके सिलसिले में जो निचोड़ व परिणाम निकले हैं, वे मुझे जरूर ऐसे मालूम देते हैं जिनसे मित्रों, साथियों व लोगों को लाभ व प्रेरणा मिल सकती है। तो उन्हें ही क्रम से क्यों न लिख दूं? जो बात अचानक मुंह से निकल जाती है उसमें परमात्मा का कोई संकेत, हेतु होना चाहिए, नहीं तो क्यों मैंने एकाएक ईश्वरलाल से 'हां' कह दिया? आखिर बहुत मन-मथन के बाद यही ठीक समझा कि अपने वे अनुभव, व संस्मरण पाठकों के सामने रख ही दूं। इनकी माला को

गूंथने में मेरे जीवन की कुछ घटनाओं ने धागे का काम किया है। इससे पाठकों का कुछ उपकार हुआ तो इतने आत्म-प्रदर्शन के लिए ईश्वर के दरबार में क्षमा मिलने की आशा रखता हूं।[1]

---

1. इसके प्रथम १२ प्रकरण १६४१ में लिखे गए थे। शेष १६४५ में लिखे गए हैं।

: २ :

'बंड' या 'शरीफ' ?

अपने गांव[1] का खयाल आता है तो सबसे पहले कवीट (कैंथ) के ऊंचे-ऊंचे झाड़ याद आते हैं। कवीट खाने, कवीट से कवीट गिराने में मैं एक नम्बर था। हमारा भौंरासा कवीटों की इफरात से आसपास के गांवों में 'कवीटिया' कहलाता था। जब बचपन की तरफ निगाह दौड़ती है तो आश्चर्य होता है कि ४८ साल[2] निकल गए। जब इतनी उम्र का खयाल आता है तो मन बचपन की तरफ से हटकर बुढ़ापे का चित्र देखने लगता है; चपलता उदासी की तरफ वह निकलती है। मौत का खयाल डरावना तो नहीं लगता, कुछ-कुछ सुहावना ही लगता है; मगर कुछ छिपे-छिपे यह भान होने लगता है कि दिन थोड़े रह गए और कुछ कर नहीं सके। किन्तु भीतर से एक विश्वास की लहर उठती नजर आती है, कुछ करके ही मरना होगा। कुछ पूरा होकर ही रहेगा। बचपन से ही न जाने क्यों मेरे मन में रह-रह कर यह प्रेरणा उठती है कि मुझे कुछ करना है। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि कोई मुझे घसीटे, बहाए ले जारहा है। मुझे उसकी दिशा का भान भी होने लगता है। जीजी[3] कहा करती थीं कि तेरे पिताजी को एक साधु ने आशीर्वाद दिया था कि तुम्हारे अच्छा पुत्र होगा। पिताजी नित्य प्रातःस्मरण व स्तोत्र-पाठ किया करते थे। सुनते-सुनते कई स्तोत्र मुझे याद हो गए थे।

१—भौंरासा—जिला उज्जैन, ग्वालियर-राज्य। २—जन्मतिथि—चैत्र बदी ७, संवत् १९४९, विक्रमी। ३—मेरी माता, जानकी देवी।

उनका बड़ा प्रभाव मन पर पड़ता था। जब कभी वे 'शिव-कवच' व 'राम-रक्षा' के श्लोक का पाठ करते थे तो मुझे सचमुच ऐसा जान पड़ता था कि मेरे शत्रुओं का नाश हो रहा है और शङ्कर या राम मेरी रक्षा कर रहे हैं। अब भी इन स्तोत्रों का मेरे मन पर बड़ा असर होता है।

बचपन से ही न जाने क्यों मेरे मन में यह बात जमी बैठी है कि मेरे अंतिम दिन सिप्रा या नर्मदा के, विशेष कर नर्मदा के, किनारे बीतेंगे। नर्मदा से मुझे इतना आकर्षण मालूम होता है कि एक बार नर्मदा-तट पर घूमते हुए मैंने बैजनाथजी से कहा था—जी चाहता है कि मैं मोटर से यहीं उतर पड़ूं और रहने लग जाऊं।

३-४ साल पहले पूज्य किशोरलाल भाई मश्रुवाला से मैंने कहा था कि मुझे उपनिषत्-कालीन ऋषि-मुनियों का जीवन बहुत अच्छा लगता है। मेरे अंतिम दिन इसी तरह बीतते मालूम होते हैं। मेरी प्रवृत्ति उसी तरफ है।

इन विचारों व भावनाओं के साथ मेरा बाल्य-जीवन बड़ा बे-मेल मालूम होता है। गांव के लोगों ने मेरा नाम 'बद्री बण्ड'[1] रख दिया था। मेरी शरारतों व साहसिक बातों से माता-पिता बहुत परेशान रहते थे।

साहसी ऐसा कि (१०-११ साल की उम्र में) अंधेरी रात में भी १२ बजे रात को अकेला घर आते नहीं डरता था—(एक बार इसके लिए कुछ बुजुर्गों ने भूत-चुड़ैल की भयावनी बातें कह-कहकर मुझे बहुत डराया तब यह साहस कम हुआ) हठी ऐसा कि बहुत पिटने पर भी कई बार माता-पिता व बड़ों की बात नहीं मानता था। एक बार बहुत पानी बरसा नदी-नाले सब पूर। घर से बाहर निकलने की गुंजायश नहीं। मैंने बस्ता लिया और मदरसे जाने लगा। मां ने कहा, इतना पानी बरसा है कि मदरसे जाने का रास्ता नहीं। रास्ते में बह जायगा।

१—मेरा असली नाम बदरीनारायण या बदरीनाथ था। 'बण्ड' कहते हैं मालवी बोली में शरारती को!

और मदरसा तो खुल भी नहीं सकता। मैंने हठ ठान ली कि नहीं, मैं तो जाऊंगा। माता-पिता दोनों हाथ पकड़ के खींचने लगे—मैं पछाड़ खाने लगा। मेरे पिताजी ने दरवाजे की सांकल लगा दी व ताला जड़ दिया। मैं एक पत्थर लेकर लपका व बड़े जोर से ताले पर मारने लगा। अबतो पिताजी से न रहा गया, और अपने राम की खूब पूजा-पत्री की। शरारती ऐसा कि एक बार किसी ने इशारा किया कि फलां स्त्री का कपड़ा खींच ले—मैंने न आव देखा न ताव, रास्ते में जाकर कपड़ा खींच लिया। उसने पीछे मुड़कर जोर से चांटा रसीद किया—मैं लाल गाल ले इधर-उधर देखने लगा। लोग कहकहा लगाने लगे।

एक बार एक घुड़सवार जारहा था। किसी ने छुछकारा—घोड़े की पूंछ पकड़ ले। मैंने चलते हुए घोड़े की पूंछ खींच ली। घोड़े ने जो दुलत्ती लगाई कि मैं भुट्टे की तरह लुढ़क गया। अब भी छाती में उस जगह दर्द रहता है।

एक बार भौंरासे के एक तहसीलदार ने मुझसे कान में कहा—अपने पिताजी की पगड़ी उतारकर फेंक दो। मैं चुपके से उनके पास गया और बीसों आदमियों के सामने एकाएक उनकी पगड़ी उतारकर फेंक दी। खेल आदि में लड़ाई-झगड़ा होने पर साथी जब गालियों से बात करते तो मैं डण्डे से पूजा किया करता था। एक बार एक लड़के की आंख में तककर ऐसा कंकर मारा कि वह धड़ाम से गिर पड़ा व बेहोश होगया। जिन लड़कों को मैं पीटता था उनके मां-बाप की शिकायतों से मेरे मां-बाप हमेशा तंग रहते थे और समय-समय पर मेरी 'आरती' उतारा करते थे। मेरी कूद-फांद, शरारतों और साहसिक प्रवृत्तियों को देख-देख कर गांव के लोग यह भविष्य किया करते थे, यह कहीं जेल काट के मरेगा। जेल जाने की भविष्यवाणी तो उनकी, दूसरे अर्थ में, सच निकल गई। मृत्यु के बारे में मेरे मन में भी कई बार यह भावना उठती हैं कि वह भी संभव है घटनामय हो।

लेकिन इन दुष्टताओं के बावजूद गांव के लोग मुझे बहुत प्यार

करते थे। इसका कारण तो यह था कि मैं पढ़ने-लिखनेमें तेज था। जहीन माना जाता था। कभी किसी विषय में फेल नहीं हुआ। दूसरा बड़ा कारण यह था कि मैं कभी किसी को 'नाहीं' नहीं कहता था। जिसने जो काम बता दिया वह कर दिया। मां ने एक काम से कहीं भेज दिया, रास्ते में दूसरे ने अपना बता दिया। पहले मैं उनका काम कर देता था, फिर घर का—मां का बताया हुआ। अब भी जब कोई अपनी गरज लेकर मेरे पास आता है तो मुझे 'ना' कहना बहुत भारी मालूम होता है व अपने कामों की परवा न करके भी उनका काम कर देने की प्रवृत्ति होती है। मेरे घर के व साथी सब इस प्रवृत्ति से एक अंश तक दुखी रहते हैं, मुझे व मेरे कामों को इससे हानि पहुंचती है, मगर मुझे कुछ ऐसा लगता है कि ऐसे समय 'ना' कहना मनुष्यता व सहृदता के विपरीत है। इसमें मूल प्रेरणा तो अहिंसा या सेवा की है; परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि समाज में सद्गुण की भी सीमा होती है। जबतक अपेक्षा है तब तक सीमाएं हैं, और जबतक समाज है, हमारी सामाजिक दृष्टि है, तबतक सापेक्षता की उपेक्षा नहीं हो सकती। समाज की हानि व टीका या निन्दा की जोखिम लेकर ही मनुष्य निरपेक्ष रह सकता है और निरपेक्ष, दृष्टि को पूर्णतः निभा सकता है।

अपना नुकसान करके भी जो दूसरों के काम आता रहता है, वह 'बेवकूफ' भले ही समझा जाय, मगर उसे प्यार सब करते हैं। उस बचपन के दिनों की एक ऐसी सनसनीदार घटना मुझे याद है जो इन उपद्रवों की पृष्ठभूमि में देने जैसी है। दर्जे में एक लड़के से मेरा झगड़ा हुआ। उसके पिता मदरसे में आकर मुझे डॉटने-डपटने लगे। हेडमास्टर साहब ने उन्हें मना किया। वे उनसे भी उलझ पड़े। हेडमास्टर ने अदालत में मुकदमा चला दिया। मैं प्रधान गवाह बनाया गया। लड़के के बाप ने अदालत में अलग ले जाकर मेरे पांव पर पगड़ी रख दी। रोने लगे—तुम्हारी गवाही से मेरी इज्जत मिट्टी में मिल जायगी। वे बुजुर्ग थे। मैं इस भार को, उनके इतने जलील होने के इस दृश्य को, न सह सका।

मेरी आंखों से भी आंसुओं की झड़ी लग गई। मैंने गवाई नहीं दी, वे बहुत बच गए। हेडमास्टर तो बहुत नाराज हुए, उनकी सारी इमारत ही ढह गई—मगर सारे गांव में मेरी तारीफ होती रही—बद्री बड़ा शरीफ है।

: ३ :

परिवर्तन

मेरे चचा (स्व० श्री वैजनाथ उपाध्याय) बचपन से ही मुझे बहुत चाहते थे। वे साहसी, बुद्धिमान, तेज-तर्रार, त्यागी, सेवाभावी थे। शासकों के व मुंशियों के गुण भी उनमें खूब थे। १२ साल की उम्र में मुझे वे अपने पास[1] ले गये। वहां जाते ही मुझमें एकाएक बिना किसी के कहे-सुने एक अजीब परिवर्तन हुआ। यह भाव मन में पैदा हुआ—अब मां नहीं; काकी के पास रहना है। यहां अपना बंडपन (शरारत) नहीं चलेगा। काका साहब बड़ी उमंग से मुझको यहां लाये हैं। मेरे उपद्रवों से उन्हें दुःख व कष्ट न हो। काकी को परेशान न होना पड़े। काका साहब यहां बड़े आदमी हैं। उनका भतीजा अगर उपद्रव करे तो यहां के लोग क्या कहेंगे? मुझे उन्हें इसकी शिकायत का मौका न देना चाहिए। जब मैं सोचता हूं तो मुझे आश्चर्य होता है कि यह समझदारी और जिम्मेदारी के भाव उस समय मेरे मन में कहां से आ गये। इनके मूल की खोज करता हूं तो ऐसा मालूम होता है कि काका व काकी को मेरे कारण कष्ट न पहुंचे, उनकी बुराई-बदनामी न हो, यह अहिंसा की भावना इसमें थी। इस गुप्त या सुप्त भावना ने मेरे अन्दर यह परिवर्तन या बुद्धिमानी पैदा की। बाद में तो मुझे यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि अहिंसा या किसी भी सद्भाव की साधना से बुद्धि बढ़े बिना नहीं रह सकती। नई-नई व

---

१. उस समय वे बरमंडल (जागीर सरदार जटार साहब) (मालवा ग्वालियर-राज्य) में बहिवटदार (तहसीलदार) थे।

अद्‌भुत बातें सूझे बिना, एकाएक छोटे या बड़े परिवर्तन हुए बिना रह नहीं सकते।

काकी मेरी बड़ी स्नेहमयी थीं। लेकिन काका साहब सदैव यह ख्याल रखते थे कि काकी मेरे साथ कोई दुर्व्यवहार न करे। जरा खटका होते ही वे उनके साथ कड़ाई से पेश आते। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं बेचैन हो उठता कि मेरी बदौलत काकी पर सख्ती हुई। यह डर होने लगता कि इससे कहीं काकी के स्नेह में फर्क न आजाय। वह यह न समझने लगें कि यह कहां की आफत मेरे पीछे लग गई। काका साहब भी आगे जाकर यह न महसूस करने लगें कि हरि[1] को लाकर एक झंझट में पड़ गया। इस कठिनाई में से ईश्वर ने मुझे एक रास्ता सुझाया। काका साहब तो अपने हैं। उनका प्यार तो मेरे लिए सहज है। काकी पराई बेटी है। उनका प्यार मेरे पात्र बने रहने से ही मिल व टिक सकेगा। मैं उनके प्यार व वात्सल्य का अधिकारी कैसे बना रहूं? उनकी सेवा करके उनका होकर। काका साहब को भले ही एक बार नाराज होने का मौका मिले, पर काकी को नहीं। काका साहब जब काकी को झिड़कें, तो मुझे काकी की तरफदारी करनी चाहिए, उनका बचाव करना चाहिए।

बस, मैं बीच-बीच में काका साहब से, ऐसे अवसरों पर कहने लगा— आप बिला वजह काकी को क्यों डांटते हैं? इसमें तो मेरा ही कुसूर था, इसकी सजा तो मुझे मिलनी चाहिए। कई बार मैं झूठ-मूठ भी बातों को अपने ऊपर ले लिया करता था। अब तो काकी का प्रेम व विश्वास इतना बढ़ गया कि कोई काम उनके हाथ से बिगड़ जाता और काका साहब जवाब तलब करते तो वे मेरा नाम ले देती थीं। काका साहब मुझे कभी-कभी तेज स्वर में सवाल करने के अलावा कभी नहीं डांटते थे। वैसे

---

1. मेरे मामा व काका मुझे 'हरि' कहा करते थे, आगे चलकर यही नाम—हरिभाऊ—प्रचलित हो गया।

गुस्सा उनका तेज था; लेकिन मेरे प्रति उनकी मधुरता के मूल में भी यह भाव हो तो आश्चर्य नहीं कि यह अपना लड़का नहीं, भतीजा है। यह दुलार व प्यार की चाह रखता है, सख्तियों की नहीं। लड़का सख्ती को समझ सकता है, भतीजा नहीं। लेकिन यहां बात उलटी थी। मेरे खातिर काकी या मेरे भाई (काका के लड़के) पर सख्ती होती तो मुझे बुरा लगता—हालांकि उनकी इस दूरंदेशी से काका साहब के प्रति मेरा आदर व पूज्य भाव बढ़ता ही गया। मेरे भाई को अक्सर और कभी-कभी, मेरी काकी को भी, काका साहब का यह पक्षपात अखरता था। मुझे तो ऐसा ही लगता है कि काका साहब का व्यवहार शुद्ध अहिंसा-भाव से प्रेरित था। वे अहिंसा-सिद्धान्त के कायल हों, अहिंसा-नीति पर जान-बूझ कर चलते हों, सो बात नहीं। लेकिन उनके अनजाने भी उनका यह रुख अहिंसा-प्रेरित ही दिखाई देता है।

अहिंसा के मूल में भिन्नता का, द्वैत का भाव है; सत्य में अभिन्नता का, अद्वैत का। दूसरे की अपेक्षा में व अपेक्षा से ही हमारा व्यवहार हिंसा या अहिंसा का समझा जा सकता है। जब कोई दूसरा नहीं है, हमी हम हैं, तो वहां सब शुद्ध नग्न सत्य, अभेद है। सत्य की नग्नता अतएव बीभत्सता पर अहिंसा, सभ्यता व सौजन्य का वस्त्रावरण है। सत्य की प्रखरता अतः असह्यता पर अहिंसा मधुरता व मृदुलता का लेप, अनुपान है। साधारणतः मनुष्य भतीजे से उतना अभेद अनुभव नहीं करता जितना सगे बेटे से, व जितना खुद अपने से अभेद-भाव समझता है, इतना सगे बेटे से भी नहीं। इसलिए वह खुद अपने तईं जितनी नग्नता, प्रखरता, कठोरता बरत सकता है, उतनी अपने खास बेटे के प्रति भी नहीं। सत्य का ज्ञान या अनुभव जैसा मुझे है या होता है ठीक वैसा ही, बिलकुल नग्न, मुझे उसे दूसरे को कराने की हिम्मत नहीं होती—समाज की दृष्टि से यह सदा आवश्यक व हितकर भी नहीं है—क्योंकि संभव है दूसरा उसे उसी रूप में न देख सके या समझ सके। मेरे अपने संस्कार अलग हैं, उसके अलग। यह भेद मेरे व उसके सत्य व्यवहार में

एक मर्यादा उत्पन्न कर देता है और वह अहिंसा है। मैं अपने सत्य को दूसरे तक अहिंसा द्वारा ही पहुंचाकर कृतकार्य हो सकता हूं—यदि कृतकार्यता की कुछ आशा हो सकती है तो इसी तरीके से। सत्य का स्थान क्यों अग्रिम है, अहिंसा का स्थान उसके मुकाबले में क्यों दूसरा है, यह इससे अच्छी तरह समझ में आजाता है। जबतक हमारे मन में भेद-भाव है तब तक अहिंसा व सत्य का हमारे लिए समान मूल्य है, जब भेद-भावों से हम परे हो जाते हैं, या होने लगते हैं, तब हम अपने लिए यह भाषा बोल सकते हैं—सत्य का नम्बर पहला, अहिंसा का दूसरा।

मैं बरमण्डल में तीन साल रहा। इसके बाद जब मैं भौंरासा गया तो वहां वाले आश्चर्य करने लगे कि यह कितना शान्त, समझदार हो गया। कहने लगे—बैजनाथ ने इसका जीवन सुधार दिया। काकासाहब ने सच-मुच मेरा जीवन यहां बनाना आरम्भ किया था। राष्ट्रीयता, देश-भक्ति समाज-सेवा की भावना मेरे मन में यहीं अंकित हुई। मानवी सद्गुणों के बीज के रूप में जो भावनाएं भौंरासा में छुट-फुट बिखरती दीखती थीं, उन्होंने उनकी देख-भाल व संगोपन में स्थिरता व वृद्धि पाई एवं उन्हें सुव्य-वस्थित रूप मिला। उनके पास उन दिनों मराठी के चार अखबार आते थे—'केसरी', 'काल', 'भाला', 'हिन्दू-पंच'। चारों उस समय उग्र राष्ट्रीय विचारों के प्रतिनिधि व प्रतिपादक थे। मेरे जाने के बाद इनमें 'हिंदीकेसरी' व 'भारतमित्र' और जोड़े गए। पुस्तकों का खासा भण्डार उनके पास था। चाचाजी अच्छी पुस्तकें पढ़ाते, अखबारों का मजमून समझाते, 'लाल-बाल-पाल'[1] त्रिमूर्ति नेताओं का गुण व प्रभाव बताते। रात में गश्त के लिए सिपाही की वर्दी में मुझे साथ ले जाते; डरावनी जगहों पर मुझे अकेले गश्त करने भेजते। कहते—खतरे व मृत्यु से क्या डरना? ईश्वर को संकट में डालना या मौत के मुंह में ढकेलना मंजूर है तो वह होकर

१—लाल—लाला लाजपतराय, बाल—बाल गंगाधर तिलक, पाल—विपिनचन्द्र पाल।

रहेगा—घर बैठे भी संकट या मौत आ जायगी। जंगलों में, पहाड़ों पर, बारिश में साथ ले जाते। तीर व बन्दूक चलाना सिखलवाया। अपनी जाति (औदुम्बर) की अवनत दशा का बड़ी करुणा के साथ जिक्र करते। एक बार उन्होंने मुझे नीचे लिखी नसीहतें लिखकर दीं—

भूलने योग्य बातें—

१—दूसरों द्वारा अपने साथ की गई बुराई।

२—अपने द्वारा दूसरों के साथ की गई भलाई।

याद रखने योग्य बातें—

१—अपने द्वारा दूसरे के साथ की गई बुराई।

२—दूसरों द्वारा अपने साथ की गई भलाई।

इस शिक्षा ने मेरी मूल अहिंसा-वृत्ति को स्पष्ट आचार में लाने का मार्ग दिखाया। इस तीन साल के काल ने मेरे दिमाग को अच्छा भोजन दिया, मेरी भावनाओं को राष्ट्रीय बनाया, और मेरी स्पिरिट को दुष्टता से हटाकर शिष्टता और समझदारी की ओर मोड़ा। मेरे भावी जीवन की असली नींव यहीं पड़ी। इसका जितना श्रेय मेरे काका साहब को दिया जाय उतना सत्य व वाजिब है।

: ४ :

दुःखद घटना

मेरे चाचाजी का तबादला भेडीताल[1] (बरहलगंज) हो गया। वे बहुत चाहते थे कि मुझे अंग्रेजी पढ़ाई जाय। मैं अपने मां-बाप का उस समय इकलौता और लाड़ला बेटा था। मार्तण्ड[2] का जन्म उन दिनों हुआ ही था। मुझे अपने से दूर भेजने की हिम्मत उन्हें नहीं होती थी। बरमण्डल में रहते हुए काका साहब ने मुझे तमाम दफ्तरी कार्रवाई से इतना परिचित कर दिया था कि उनके वहां से चले जाने के बाद कोई एक साल तक मैंने तहसील का सारा काम चलाया था। उन दिनों ग्वालियर राज्य के फैक्टरी इन्सपेक्टर श्री वासुदेवराव शाहाणे बी० ए०, एल-एल० बी० दौरे पर वहां आये थे। वे मेरे काम-काज, रंग-ढंग से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मेरे पिताजी से यह वादा लिया कि मुझे अंग्रेजी पढ़ने के लिए उज्जैन जरूर भेजेंगे व अपने मित्र, कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल, राजे साहब को एक पत्र लिखा कि हरिभाऊ को मेरा पुत्र समझकर इसकी शिक्षा-दीक्षा में दिलचस्पी लीजिए। मगर पिताजी ने स्नेह की दुर्बलता-वश मुझे नहीं भेजा। इससे मेरे चित्त को बड़ी ठेस लगी। संयोग से सुन्दर[3] की शादी (सन् १६१०) में चाचाजी आये और उन्होंने मुझे काशी ले जाकर पढ़ाने का प्रस्ताव रखा। मगर कहा कि यदि दा साहब (मेरे

१—भेडीताल, जिला गोरखपुर, (ग्वालियर के सरदार जटार साहब की जमींदारी) २—सस्ता साहित्य मंडल का मन्त्री, ३—मेरी चचेरी बहन,।

पिताजी) मना कर देंगे तो मैं नहीं ले जाऊंगा। मैंने जीजी व दा साहब (माताजी व पिताजी) को अकेले में कहा—मेरी आगे पढ़ने की तीव्र अभिलाषा है। काका साहब मुझे काशी ले जाना चाहते हैं। आपसे पूछेंगे। आपने इनकार किया तो नहीं ले जावेंगे। लेकिन इसकी कीमत आपको बड़ी भारी चुकानी पड़ेगी। मैं कहीं ऐसा चला जाऊंगा कि फिर जिन्दगी-भर आप मेरा मुंह न देख पावेंगे। मेरे हठीले स्वभाव को वे खूब जानते थे। कुछ नहीं बोले। चाचाजी ने पूछा, तब भी चुप रहे। तब चाचाजी ने मुझे काशी ले जाने का निश्चय कर लिया।

बरमण्डल में मैं लुक-छिपकर बीड़ी पीना सीख गया था। चाचाजी पीते थे, सो सोचा, देखें कैसा सवाद आता है। सवाद-ववाद तो खाक आया, धूंआ पेट में उतर गया व दिमाग में चढ़ गया तो बड़ी देर तक परेशान रहा। लेकिन एक दोस्त ने उसमें पीछे की तरफ पीपरमेंट लगा-कर पिलाया तो बड़ी ठण्डी-ठण्डी व अच्छी लगी। लेकिन जब काशी जाने के लिए गाड़ी में बैठा तो भाव-विभोर हो गया। गंगा के किनारे, काशी विश्वनाथ की नगरी में विद्याध्ययन का अवसर—कितना पुण्य, कितना बड़ा भाग्य! ऋषिकालीन विद्यार्थियों व छात्रों की तरह एक आदर्श-विद्यार्थी का जीवन बिताऊंगा, न किसी बुराई में लिप्त होऊंगा, न किसी व्यसन में फंसूंगा। 'रांड, सांड, सीढ़ी, संन्यासी, ,इनसे बचै सो सेवै कासी।' यह कहावत सुन चुका था। अपने जीवन को सब तरह पवित्र रखने का दृढ़ निश्चय किया।

१६११ से १५ तक, पांच साल, मैंने काशी व प्रयाग में रहकर मैट्रिक पास किया। यह काल विद्याध्ययन के साथ-साथ साहित्य-सेवा व समाज-सेवा के प्रकृत कार्यारंभ का और अपने सद्भावों की व्यावहारिक परी-क्षाओं के भी आरम्भ का काल था। बरमंडल से ही लोकमान्य तिलक मेरे आराध्य-देव बन चुके थे। काशी में मुझे एक ऐसे पथ-दर्शक[1] मिल

1—डाक्टर हरि रामचन्द्र दिवेकर, साहित्याचार्य।

गए जिससे तिलक महाराज की तरह देश-सेवा में जीवन लगाने का संकल्प दृढ़ होने लगा। मेरे काशी आ जाने के बाद काका साहब की भी जाति-सेवा व साहित्य-सेवा करने की भावना को मूर्तरूप मिलने लगा। उन्होंने एक मासिक पत्र काशी से निकालने का निश्चय किया व आर्थिक के अलावा सब जिम्मेदारी मुझ पर डाल दी। प्रेरणा व देख-भाल उनकी, कार्य की जिम्मेदारी मेरी। उस समय मेरी अवस्था १६-१७ साल की थी व मैं सातवें दर्जे में पढ़ता था। मेरे साथ मेरे दो छोटे चचेरे[1] भाई व एक फुफेरा भाई हरिशंकर[2] भी पढ़ने के लिए रखे गये थे। चाचाजी का सख्त हुक्म था कि विद्यार्थियों को हाथ से काम करना चाहिए, पानी लाना, कपड़े धोना, रसोई बनाना, चौका-बरतन, सौदा-सुलुफ सब काम हम लोग खुद ही करते थे। हरिशंकर व सुन्दरलाल दो तो बच्चे ही थे। दत्त मुझसे दो साल छोटा था। इसलिए सारी जिम्मेदारी हम दोनों पर और सबसे बड़ा होने के कारण मुख्यतः मुझ पर थी। दत्तू शुरू से ही कुछ गैर-जिम्मेदार था व चाचाजी उससे नाराज व दुखी रहते थे। इससे मेरी नैतिक व व्यावहारिक जिम्मेदारियां कितनी भारी थीं—इसका अनुमान पाठक सहज ही लगा सकते हैं। हम रहते रामघाट, कालभैरव, दूधविनायक आदि की तरफ व पढ़ते थे ठेठ कमच्छाके हिन्दू कालेजियट हाईस्कूल में। हमेशा पैदल आते-जाते। खूब तेज चलने पर ३५-४० मिनट में घर से स्कूल पहुंच सकते थे। घर का, स्कूल का, व पत्र (औदुम्बर) का इतना काम रहता था कि शाम को स्कूल से आते ही दूसरे दिन की किताबें बस्ते में छांटकर रख देता था। अक्सर दोनों वक्त के भोजन व चौका-बरतन का बोझा मुझी पर रहता था। रातको काम-काजमें ६ बज जाते इतना थक जाता कि पड़ते ही नींद आजाती। सुबह फिर नौ-सवा नौ बजे तक बड़ी मुश्किल से रसोई-पानी से निवृत्त होकर किसी तरह बस्ता लेकर दौड़ते-भागते स्कूल पहुंचता। 'औदुम्बर' का बहुत-कुछ काम स्कूल में व क्लास

१—ये दोनों अब संसार में नहीं हैं। २—बम्बई में टी०टी०ई० हैं।

में करता। शिक्षक भी मेरे परिश्रम व साहित्य-सेवा के काम से प्रसन्न रहते थे—इसलिए 'होमटास्क' के लिए कभी टोकते नहीं थे। हेडमास्टर गुर्टू[1] साहब ने मेरे लिए बनारस के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट को एक प्रमाण-पत्र भी दिया था, जिसमें संजीदगी, समझदारी व सेवा-भाव का उल्लेख किया था जिससे 'औदुम्बर' का डिक्लेरेशन बिना जमानत मिल गया।

इन जिम्मेदारियों की चिन्ताओं ने, खासकर दत्तू को प्रसन्न व संतुष्ट रखने की चिन्ता ने मेरे दिमाग पर बहुत बोझा डाला। उस पर बड़ा तनाव व जोर पड़ने लगा। वरमण्डल में जैसे काकी को संतुष्ट रखने की नीति मैंने रखी वैसे ही काशी में दत्तू को। लेकिन इसमें पूरा काम-याब न होसका। एक रोज दत्तू मुझसे नाराज होकर चला गया व दूसरी जगह रहने लगा। मैंने उसे हाथ-पांव जोड़कर बहुत समझाया, मिन्नत चिरौरी की, लेकिन वह न माना। आखिर काका साहब आये। मुझे अपनी इस अयोग्यता व असमर्थता पर इतनी आत्म-ग्लानि हुई कि मैंने उनके सामने प्रस्ताव रखा—"दत्तू मुझसे रूठ गया है। उसको कष्ट पहुंचाकर मैं यहां रहना व पढ़ना नहीं चाहता। काकी को कितना रंज होता होगा। मुझे घर भेज दीजिए। आपके आशीर्वाद से जितना कुछ बनेगा मैं उधर ही पढ़ लूंगा।" उन्हें इस प्रस्ताव से बड़ी ठेस लगी। मुझसे कहने लगे—"दत्तू को मैं जानता हूं। तुम्हारी काकी भी जानती है। घर भेजना होगा तो दत्तू को भेजूंगा—तुम्हें नहीं। जितना बोझ तुम पर है उतना दूसरे किसी पर होता तो अब तक मुंह छिपाकर भाग जाता। मेरे पुत्र तो तुम होने चाहिए थे।" उनकी इस उदारता और वत्सलता से मैं आधा जमीन में गड़ गया। लेकिन उन्होंने दत्तू को जो बुरा-भला कहा, वह अब भी मुझे तीर की तरह चुभता रहता है। मैंने यही माना कि मेरे बड़े-भाईपन में जरूर कसर थी, जिससे मैं दत्तू का दिल न जीत सका और मेरी ही कमियों के कारण उसे बुरा-भला सुनना पड़ा व पड़ता था।

1—सर इकबालनारायण गुर्टू।

यदि मुझमें काफी अहिंसा-भाव होता, मेरा जीवन प्रेममय व रसमय ही होता तो उसकी मधुरता व स्निग्धता उसे अवश्य ही पिघला लेती। बाद में तो दत्तू मुझसे खुश रहने लगा था—लेकिन उस घटना की छाप मेरे दिल से अभी तक नहीं मिटती है। मेरे दिल व दिमाग को इतना धक्का लगा था कि मुझे व चाचाजी को भी यह शक होने लगा था कि मेरा चित्त कहीं उचट न जाय।

: ५ :

योग का पाठ

इसके पहले की एक घटना मुझे लिखनी है जिसने मुझे योग का प्रत्यक्ष पाठ पढ़ाया। सुन्दरलाल को एक रोज रात को दस्त लगे व उल्टी हुई। वह अक्सर अधिक खा लिया करता था। हम समझे, बदहजमी होगई है। रात का वक्त—हमारी जान-पहचान अभी ज्यादा नहीं हो पाई थी, न दुनिया का ही कुछ तजरुबा था। मकान-मालिक से कहा तो उसने कहा—सब ठीक होजायगा, सुबह किसी वैद्य को दिखा देंगे। उसे असल में हैज़ा होगया था। पिछली रात को जब उसके चिह्न खराब दिखाई देने लगे तो हम घबराये व वैद्य को बुलाकर लाते हैं, तब तक वह चल बसा। मुझ पर तो मनो पत्थर पड़ गये—अब काका साहब व काकी को क्या मुंह दिखायेंगे ? सबसे बड़ी चोट तो यह लगी कि बिना दवा-दारू के ही लड़का हाथ से चला गया। इस मूढ़ता व गफ़लत के लिए मैंने आज तक अपने को माफ नहीं किया। जब-जब याद आती है, शूल की तरह चुभती है और यह भाव मिटाये नहीं मिटता कि मेरी गफ़लत उसकी मृत्यु की जिम्मेदार है।

उसका दाह-कर्म करके उसी दिन हम काशी से बरहलगंज पहुंचे। चाचाजी को देखते ही मैं धड़ाम से गिर पड़ा व बेहोश होगया। इधर सुन्दरलाल का वियोग, उधर काकी का करुण-क्रन्दन, सामने मैं बेहोश। उनकी व्यथा की कथा कौन लिख सकेगा ? मगर देखने वालों ने कहा कि उनके चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं पड़ी। लोग मातम-पुरसी के लिए

आने लगे। उनसे वे उसी सहज प्रसन्न मुख-मुद्रा से बातचीत करते। उनके शोक व वियोग की बातचीत छेड़ने के पहले ही काम काज व व्यवहार की ऐसी-ऐसी बातें छेड़ देते कि लोगों को अवसर ही नहीं मिलता। वे आपस में कानाफूंसी करते कि अजीब संगदिल आदमी है। हमको तो सुनकर रंज होता है, लेकिन इसके जाने तो मानो कुछ हुआ ही नहीं। उनके एक नजदीकी मित्र ने लोगों की यह टीका उन्हें सुनाई और खुद भी टपका दिया कि ऐसा निर्मोहीपन किस काम का? चाचाजी ने उन्हें वशिष्ठ की एक कथा सुनाई। मैं बैठा हुआ था। विश्वामित्र ने वशिष्ठ के एक-एक करके साठ पुत्र मार डाले तो अरुन्धती ने कहा—वशिष्ठ, तुम्हारा हृदय नहीं, पत्थर है। इतने पुत्रों के मरने पर भी तुमने उफ़ नहीं किया। वशिष्ठ ने उत्तर दिया कि नहीं, तुम गलती पर हो। मैं आखिर पिता हूं। उन्होंने अपना हृदय चीरकर दिखाया—उसमें साठ गहरे घाव थे व उनमें से खून की धारा बह रही थी। मित्र से उन्होंने कहा—मास्टर साहब, मेरे हृदय में गहरा जख्म हुआ है, मेरी जिन्दगी में पहली बार ऐसी चोट मुझे लगी है, लेकिन मेरा कर्त्तव्य यह नहीं है कि मैं उसे दूसरे को दिखाऊं व सुनाऊं। शांति से खुद उसे सहन करूं, इसमें मेरी बहादुरी है। अपना दुःख दूसरों को सुनाना गोया दूसरों को दुखी बनाना है। जो कायर होते हैं वे दूसरों में अपना दुःख बांटकर जी हलका करते हैं। जो मर्द होते हैं वे अपना दुःख तो खुद चुपचाप सहते ही हैं, दूसरों के दुःखों व कष्टों को भी झेलते हैं। मेरा कर्त्तव्य है, दूसरों को सुखी बनाना। इस हरि को देखो, उस दिन कैसो हालत होगई। मैं इसे इतना कमजोर नहीं समझता था। इसकी काकी तो स्त्री है। माता है। यह सुनकर मित्र भी लज्जित हुए और मैं अपनी कमजोरी पर इस नई दृष्टि से विचार करने लगा। आज काका साहब को मैंने एक योगी के रूप में देखा। इतना मनःसंयम बहुत कम लोगों में पाया जाता है। मेरा दिल अब भी इतना कच्चा है कि किसी के शोक

व रोदन से—नाटक व सिनेमा में भी किसी की विपत्ति को देखकर मेरी आंखों में आंसू आ जाते हैं।

इसके बाद से जब कभी ऐसे शोक व दुःख के प्रसंग आते हैं तो काका साहब की वह मूर्ति मेरी आंखों के सामने खड़ी हो जाती है व उनके ये शब्द कानों में गूंजने लगते हैं—

'कायर अपने दुःख को दूसरों में बांटता है, मर्द दूसरों के दुःखों में हाथ बंटाता है।'

अब मैं अपनी इस कमजोरी का विश्लेषण करता हूं तो इन नतीजे पर पहुंचता हूं कि दूसरों के दुःखों व कष्टों के दृश्य या कल्पना या अनुभव से मैं अधीर व कातर हो जाता हूं। खुद मुझपर कोई कष्ट,संकट या दुःख आ पड़ा है तो उसमें मैं कभी विचलित नहीं हुआ। सुन्दरलाल की अचानक मृत्यु से जो मुझे बेहोशी आ गई उसका कारण एक तो अपनी मूढ़ता व ग़फ़लत के प्रति अज़हद आत्म-ग्लानि, व दूसरे काकी के शोक की कल्पना व उसके प्रति समवेदना। फिर भी चाहे शोक या दुःख अपना हो या पराया—चित्त की प्रसन्नता को जाने दो, समता का खो बैठना मनुष्य की कमी व कमजोरी ही समझी जानी चाहिए। काका साहब ऐसे अवसरों पर नारायणस्वामी का एक दोहा कहते थे—

नारायण दुख-सुख उभय, भ्रमत फिरत दिन रात।
बिन बुलाय ज्यों आरहे, बिना कहे त्यों जात॥

मैं अक्सर देखता था, जब बहुत-सी चिन्ताएं व झंझटें उनके चित्त को व्याकुल करने लगती थीं तो सब काम छोड़कर सो जाते थे और आश्चर्य यह कि उन्हें गाढ़ी नींद आजाती थी। वे ऐसे अवसरों पर कहा करते थे कि अब सबसे जरूरी, सबसे पहला काम, सो जाना है।

बापूजी कहा करते हैं कि अहिंसा वीरों का, मर्दों का धर्म है, कायरों का नहीं, यह सोलहों आना सच है। अपने को खतरों में डालने का साहस, अपने कष्टों व मुसीबतों में अविचलता, दूसरों के दुःखों में सहानुभूति व पतन की अवस्था में करुणा पैदा होना, अहिंसा के ही लक्षण हैं।

जो अपने कष्टों को खुशी-खुशी सह सकता है, भयों व चिन्ताओं के सामने शेर की तरह जाता है, वह सच्चा अहिंसक है, वही दूसरों को बचाने में जान की बाजी लगा सकता है। अपने को बचाने व दूसरों को फंसाने की कृति भले ही दुनिया में 'चतुरता' समझी जाय, वह है कायरता की व हिंसा की निशानी ही।

: ६ :

आत्म-शुद्धि

'औदुम्बर'[1] में जो घाटा रहता था, उसकी पूर्ति काका साहब करते थे। भेडीताल (गोरखपुर) रियासत के वे मैनेजर—मुख्तार-आम थे। तनख्वाह के अलावा भी उन्हें ऐसी आमदनी होती रहती थी जिसे 'रिश्वत' या पाप की कौड़ी नहीं कह सकते। वह वे इस घाटे में लगाते रहते थे। बाद में उन्होंने किसी तरह अपने मन को उस आमदनी के लिए भी समझा लिया, जिसे 'शुद्ध कौड़ी' नहीं कह सकते। अशुद्ध कौड़ी भी शुद्ध काम में लगा दी जाय तो दोष नहीं—यह दलील उनके मन ने गढ़ ली थी। लेकिन एक समय ऐसा आया जब उनके दिल ने इस भार को महसूस किया। उन्होंने अपने मालिक जटार साहब के सामने जाकर खुद-बखुद सारी बातें कह दीं और इस्तीफा उनके हाथ में रख दिया। लोगों ने समझाया कि इस्तीफा मत दीजिए। रोजी का कोई ज़रिया नहीं है। उन्होंने कहा—अब नौकरी करने का धर्म नहीं रहा। शुद्ध सेवा करते हुए जो मिलेगा उसी में सबका हित है।

कुछ समय के बाद, इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि 'औदुम्बर' पत्र को बन्द करना पड़ा व 'औदुम्बर' प्रेस को बेच देना पड़ा।

'प्रेस' के लिए शेयर्स एकत्र किये गए थे—लेकिन काका साहब ने काकी के लगभग दो हजार के जेवर बेचकर भी जब शेयर-होल्डरों का पाई-पाई रुपया चुका दिया, तो किसी ने समझाया—घाटा शेयर होल्डर्स

१—मासिकपत्र, जो १६११ में हमने काशी से प्रकाशित किया था।

में क्यों नहीं बांट देते ? उन्होंने दृढ़ता से उत्तर दिया—नहीं, मेरे भरोसे शेयर-होल्डरों ने रुपये दिये थे। उनको चुका ही देना चाहिए।

प्रेस बन्द हो चुका था, लेकिन अभी बिका नहीं था। इसी बीच प्रेस में चोरी हो गई। प्रेस के कुछ सामान के साथ-साथ हमारा घरू सामान भी चोरी चला गया। हम सब तो अफसोस करने लगे, लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ तो मुझसे कहने लगे—हरि, अच्छा हुआ, एक बोझ कम होगया। यह पाप का पैसा जितना जल्दी चला जाय अच्छा है, नहीं तो यह दूसरे स्वच्छ पैसे को भी ले डूबेगा। उनके इन वचनों का मेरे चित्त पर गहरा असर हुआ। मुझे मानो एक नवीन प्रकाश मिला।

ये दिन हमारी बड़ी आर्थिक कठिनाई के थे। वे हमेशा ईश्वर पर भरोसा रखने के लिए हमसे कहते रहते। एक रोज एक किस्सा सुनाया, जिसने मेरे हृदय में अटूट ईश्वर-श्रद्धा पैदा कर दी। 'हरिजन-सेवक' में मैंने उसे छपा दिया था—उसे ज्यों-का-त्यों यहां दिये बिना नहीं रह सकता। किस्सा यों है—

एक राजा था। बूढ़ा होने पर उसके मन में विचार आया कि राज-पाट बहुत कर चुका। बेटे भी राज-काज संभालने लायक होगए। सारी उम्र दुनियादारी में ही बिता दी—अब कुछ ईश्वर-भजन भी करना चाहिए। दीवान ने भी उसके इस प्रस्ताव का समर्थन किया। युवराज को तो यह तजवीज और भी पसन्द आई, किन्तु पिताजी का अपने से दूर रहना उसे अखर भी रहा था।

युवराज को राजगद्दी पर बिठा देने के बाद राजा वन-गमन की तैयारी करने लगा। साथ में क्या-क्या चीज ले जायं इसका विचार शुरू हुआ। कम-से-कम एक बिस्तरा चाहिए ही। खाने-पीने का कुछ सामान और बरतन भी जरूरी मालूम हुए, और सामान तथा बिछौना उठाने के लिए कम-से-कम एक नौकर। बेटे ने बहुत कुछ कहा कि सवारी के लिए घोड़ा लेते जाइए, सामान तथा नौकर-चाकर और ले लीजिए, लेकिन राजा

को तो विराग का रंग लग चुका था। नौकर को साथ ले पैदल महल से बाहर होगया। नगरवासी शहर की हद तक राजा को पहुंचाने के लिए आये। राजा न्यायी और प्रजा-प्रिय था। प्रजाजन के आंसुओं ने उसे बिदाई दी। राजा यों तो अकेले गया; पर मानो सब प्रजाजन का मन अपने साथ लेता गया।

कुछ दूर जाकर राजा को बड़ी प्यास लगी। उसने नौकर से पानी लाने के लिए कहा। कुछ ही दूर एक झरना बहता था। नौकर लोटा गिलास लेकर दौड़ा गया। राजा ने सोचा, चलो मैं भी झरना देख लूं। नौकर छानकर लोटे में जल भर ही रहा था कि एक किसान आया। उसने झरने में हाथ धोये, दोनों हाथों से पंखे की तरह पानी इधर-उधर हटाया और चुल्लू से पानी पीने लग गया। राजा की नजर पड़ी। उसने आश्चर्य से चिल्लाकर नौकर से कहा, अरे देख, यह तो बिना गिलास के चुल्लू से ही पानी पी रहा है। नौकर ने कहा, हुजूर, गांव के लोग तो इसी तरह पानी पीते हैं। राजा ने कहा—तो पहले क्यों नहीं बताया, जब सामान लिया जारहा था? हम लोटा-गिलास फजूल ही लाये। राजा को यह बात जानकर बड़ा ही आनन्द हुआ। उसे मालूम हुआ, मानो ईश्वर की उस पर विशेष कृपा हुई जो इतनी जल्दी ऐसा अनुभव हुआ। उसने ईश्वर को धन्यवाद दिया और नौकर से कहा—यह लोटा-गिलास किसी गरीब को दे दे। ईश्वर ने जब पानी पीने के लिए हाथ बना दिये हैं तो फजूल इस बोझ को क्यों लादें? ईश्वर की रचना का उपयोग क्यों न करें? नौकर ने राजा को बहुत समझाया, पर उसने एक न मानी। इसी दृश्य ने ईश्वर के रचना-नैपुण्य के प्रति उसका आदर और श्रद्धा बढ़ा दी थी।

दोपहर का वक्त। एक खेत के किनारे पेड़ की छांह के नीचे राजा के लिए खाना पक रहा है। राजा मन में अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन कर रहा है। आज कुछ घण्टों के जीवन में उसने जो आनन्द-लाभ किया वह पिछले ७० वर्ष में उसे नहीं मिला था—यह अनुभव

कर रहा था। इतने में एक किसान पास के खेत से आया। कपड़े में बंधी हुई मोटी रोटियां निकालीं, एक हथेली पर रोटी रख ली, उसी पर चटनी, और दूसरे हाथ से खाने लगा। राजा की निगाह पड़ी। उसके आनन्द की सीमा न रही। उछलकर नौकर से कहा—अरे देख तो, हम थाली नाहक ले आये, रोटी तो इन्सान हाथ पर रखकर भी खा सकता है। नौकर ने जवाब दिया—महाराज, किसान तो इसी तरह खाया करते हैं। राजा ने जरा झल्लाकर कहा—तो भले आदमी घर पर ही यह क्यों नहीं बता दिया? नौकर ने कहा—सरकार आप तो राजा ठहरे, आपसे यह सब कैसे होता? राजा ने कहा—पर मैं तो फकीर बनना चाहता हूं। मनुष्य के राज्य से हटकर मैं ईश्वर के राज्य में पहुंचना चाहता हूं। मैं देखता हूं, मनुष्य का राज्य इन्सान को बनावटों का गुलाम बनाता है, और ईश्वर की रचना उसे स्वाधीन, स्वयंपूर्ण, स्वावलम्बी बनाना चाहती है। अब इन बर्तनों की मुझे कोई जरूरत नहीं है।

रोटी खाकर किसान अपने बायें हाथ का सिरहाना देकर उसी घास पर सो गया और ऐसी गाढ़ी नींद लेने लगा कि राजा को सारी उम्र वह नसीब न हुई थी। राजा मन में बड़ा प्रसन्न हुआ। भगवान् को बार-बार धन्यवाद देने लगा, उसकी कुदरत पर और इन नये-नये अनुभवों पर वह धन्य-धन्य कहने लगा। नौकर से कहा—अरे देख, आज मुझे कुदरत का सच्चा सुख मिल रहा है। इस बिस्तर को फेंक, और तू भी घर लौट जा; ईश्वर ने इन्सान को इतना पूरा और कुदरत को इतना भरा बनाया है कि मुझे तेरे और इस सामान के अवलम्बन की कतई जरूरत नहीं। मुझे अकेला अपने हाथ-पांव और ईश्वर के भरोसे छोड़कर तू चला जा। अब मैं सब तरह सुखी रहूंगा। अपने हाथ-पांव से काम लूंगा और प्रभुमय जीवन बिताऊंगा।

: २ :

दोपहर राजा ने उसी किसान की तरह हरी घास पर सोकर काटी और चलते-चलते शाम को एक बड़े से बड़ के पेड़ के नीचे आकर

बैठा। ईश्वर-चिन्तन में डूब गया। इतने ही में एक आदमी झाड़ू हाथ में लेकर आया, और हाथ जोड़कर खड़ा होगया। राजा की आंखें खुलीं तो पूछा—"तू कौन है और हाथ बांधे क्यों खड़ा है?"

"मैं देवदूत हूं।"

"तो तू यहां क्यों आया है?"

"मुझे ईश्वर ने आपकी सेवा के लिए भेजा है। आप जहां रहें वहां झाड़ लगा देने और सफाई करने का मुझे हुक्म है।"

"तो भाई, मुझे तो तेरी सहायता की जरूरत नहीं है। खुद मेरे ही नौकर-चाकर क्या कम थे जो मैं ईश्वर को कष्ट में डालता। जा, तू ईश्वर से मेरा प्रणाम कहकर कह देना कि, मुझे तुम्हारे सिवा किसी चीज की जरूरत नहीं है।"

थोड़ी देर में वह झाड़ू वाला अब की फर्श और झाड़ू लेकर आ गया, और आते ही झाड़ू-बुहार करने लगा। राजा ने पूछा—"तू फिर आ गया?"

"जी हां, मुझे भगवान् का हुक्म है कि आपसे कुछ न पूछूं और जो हुक्म है, उसकी तामील करता रहूं।"

राजा चुप रहा। मन में कहा—करने दो। अपने से क्या मतलब। उसके फर्श पर तो हमें बैठना है ही नहीं। अरे, यह सब सुख-विलास मेरे महल में क्या कम था?

भोजन के वक्त वही आदमी एक थाल ले आया, जिसमें तरह-तरह के राजसी पक्वान्न और मिष्टान्न थे।

राजा ने देखकर कहा—"भई, तुम मुझे क्यों तंग करते हो? मुझे तो इसमें से कुछ खाना नहीं है?"

देवदूत—"मुझे जो हुक्म हुआ है उसकी तामील कर रहा हूं।"

राजा ने खाना गरीबों को खिला दिया और खुद जो कन्द-मूल जंगल में से बीन कर लाया था, उसको खाकर पेड़ के नीचे हरी घास के गद्दे पर सो रहा।

रोज यही सिलसिला रहता।

थोड़े ही अर्से में चारों ओर शोहरत फैलने लगी कि कोई बड़ा पहुंचा हुआ महात्मा आया है। रोज न जाने कहां से नया-नया फर्श आकर बिछता है और बढ़िया भोजन का थाल आता है। बड़ा करामाती है।

दर्शकों और भक्तों का ठठ जमने लगा।

एक किसान अपनी गरीबी से बड़ा बेजार था। उसने सोचा, इस महात्मा से कुछ उपाय पूछूं। यह नंगे हाथ आया था और रोज इतना ठाठ कैसे लगा लेता है?

बड़े भक्ति-भाव से प्रणाम करके उसने एक रोज अपनी गरीबी का दुखड़ा रोकर सुनाया। बोला—"महाराज, मुझे भी तरकीब बता दो, जिससे इसी तरह मेरा भी ठाठ-बाट लग जाय। घर बैठे थाल आ जाया करे।"

राजा ने कहा—"भई, मैं तो कुछ तरकीब-वरकीब जानता नहीं हूं। ईश्वर का नाम लेता हूं, वही भेज देता है।"

"तो महाराज, मुझे क्यों नहीं भेज देता, आप तो कुछ नहीं लेते हैं फिर भी जबर्दस्ती भेजता है, और हम रोज पुकारते हैं फिर भी वह नहीं सुनता।"

"भई मैं राजा था। मैंने उसके नाम पर राज-पाट सब छोड़ दिया और जंगल में आकर रहने लगा। तो उसने वह ठाट यहां भी लगा दिया, मगर मुझे इसकी कोई जरूरत नहीं है। तू भी ईश्वर के नाम पर सब कुछ छोड़ दे। मैं इसके सिवा और तुझे क्या रास्ता बताऊं।"

किसान खुशी-खुशी घर दौड़ा गया। घर वाली को पुकारकर दरवाजे ही से कहा—"अरी सुन! बड़ वाले महात्मा ने एक तरकीब बताई है—अपना सब दलिद्दर दूर हो जायगा। कल से मैं ईश्वर के नाम पर घर-बार खाना-पीना सब छोड़-छाड़ कर एक पेड़ के नीचे आसन जमाकर बैठ जाऊंगा। आज घर में जो कुछ घी-गुड़ हो उसका हलवा-पूड़ी बना के मुझे खिला दे—न जाने कितने दिन भूखा रहना पड़े।"

"तुम पागल तो नहीं हो गए हो, क्या बहकी-बहकी बातें कर रहे हो ?"

किसान ने हाथ उठाया और कहा—"अरी, तू देर मत कर, निहाल हो जाने की तरकीब ढूंढ लाया हूं, तू जल्दी कर।"

× × ×

"भूखे-प्यासे बैठे दो दिन हो गये, देवदूत अभी तक क्यों नहीं आया ? इस महात्मा ने चकमा तो नहीं दिया ! दो दिन की कमाई से भी गया और भूखा मरा सो अलग" किसान मन में पछताने लगा। कोई आदमी आता दिखाई पड़ता तो समझता, यह देवदूत ही आया होगा। भूख से व्याकुल हो ईश्वर को बुरी तरह कोसने लगा—"उस साले राजा का तो एक ही मिनट में ठाट लगा दिया। मैं दो दिन से भूखों मर रहा हूं, कोई सुनवाई ही नहीं। गरीब और दुखियों का कोई नहीं। ईश्वर भी बड़ों का पक्ष करता है।" इतने में थाल हाथ में लिये हुए एक आदमी आता दिखाई दिया।

किसान ने आतुर होकर पुकारा—"तू देवदूत है ?"

"हां"

"तो अब तक कहां मर गया था ? ला, जल्दी ला, क्या-क्या लाया है ? किसान आदमी, दो दिन से पेट में कुछ भी नहीं डाला है।"

उसने थाल आगे बढ़ाया तो तीन-चार मोटी-मोटी रोटियां और दो प्याज। किसान जल-भुन कर खाक हो गया। थाली उठाकर देवदूत के सिर पर दे मारी। "शर्म नहीं आई रोटी और प्याज लाते हुए ? उस राजा को छप्पन भोग, और मुझ गरीब को वही प्याज-रोटी। अरे, यह तो मैं रोज ही खाता था। इसी के लिए दो दिन भूखों मरने की क्या जरूरत थी ? लौटा ले जा और भगवान् से कह कि उस महात्मा-जैसे ठाट लगा दें तो खाना खाऊंगा।"

देवदूत ने भगवान् से आकर किस्सा सुनाया। उन्होंने कहा—"उसे समझा कि राजा ने जो मेरे नाम पर छोड़ा था, वह उसे दे दिया, जो तूने

छोड़ा सो तुझे भेज दिया। तू तो इसका भी अधिकारी नहीं था। राजा का त्याग तो सच्चा और निष्काम था। अब भी तो वह उसका उपभोग नहीं कर रहा है।"

× × ×

इन्हीं दिनों स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यान मुझे पढ़ने को मिले। उन्हें पढ़कर मन में अजीब मस्ती पैदा होती थी। ऐसा लगने लगता कि मैं सचमुच ईश्वर-रूप, ब्रह्मरूप हूं। सांप, बिच्छू, शेर, डाकू, बाढ़, आग, मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। यह सब मेरे ही तो रूप हैं। मैं इनसे क्यों भय खाऊं ?

जटार साहब-रचित 'अव्यक्तबोध' तो मैं बरमंडल में ही पढ़ चुका था। 'स्वानंदसाम्राज्य' काशी में पढ़ा। ये मराठी में वेदान्त के अच्छे ग्रंथ हैं। अद्वैत के प्रति मेरे विश्वास को यहां दृढ़ता मिली। बचपन में मुझे मां-बाप ने देवी-देवताओं से यह वर मांगना सिखाया था—'विद्या दीजै, बुद्धि दीजै, आपका मैं बाल-बच्चा।' काशी आने पर एक ओर जहां वेदांत की छाप जमी, तहां दूसरी ओर राष्ट्रीयता व देश-भक्ति ने जोर जमाया। अब से काशी विश्वनाथ, मैया अन्नपूर्णा व कालभैरव से मैं वर मांगने लगा—'भारतमाता को आजाद करो।'

: ७ :

ढांकने वाला नहीं

निन्दा व चुगली मुझे बरदाश्त नहीं होती। खुद भी इन बुराइयों से अपने को बरी रखने का यत्न करता हूं। दूसरों के दोष, त्रुटि, कमजोरियों को देखकर भी उनकी इधर-उधर चर्चा करना मुझे अच्छा नहीं लगता। इनसे बेजा फायदा उठाने की तो कल्पना तक मैं नहीं करता। पाठक इसे अत्युक्ति न समझें। फिर भी कभी-कभी किसी की कोई बात सहज-भाव से मुंह से निकल जाती थी। छुटपन में मैंने एक शख्स को पराई स्त्री से कुकर्म करते हुए अचानक देख लिया। दोनों बड़े लज्जित हुए और मेरे हाथ जोड़ने लगे। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि किसी से नहीं कहूंगा—मगर आयंदा के लिए तुमको कसम खानी होगी। मैंने उसे अब तक निबाहा है। ऐसे ही एक अवसर पर काका साहब ने मुझे एक ऐसी कहानी सुनाई जिसने हमेशा के लिए मेरे हृदय में घर कर लिया।

"एक ब्राह्मण की स्त्री का चाल-चलन अच्छा नहीं था, मगर अपने पति को वह भुलावे में डाले हुए थी। वह उसके सतीत्व पर पक्का भरोसा रखता था। एक रोज विदेश जाने के लिए पत्नी से विदा लेकर वह रवाना हुआ। किसी कार्यवश रास्ते से घर लौटा तो पत्नी के साथ दूसरे को सोता हुआ पाया। वह सन्न रह गया। गर्दन काट दूं? नाक काट लूं? मगर इससे इनका सुधार कैसे होगा?" यह सोच उसने अपनी चादर उन्हें ओढ़ा दी और वापस चल दिया।

"इधर जब इनकी नींद खुली तो ब्राह्मणी की निगाह चादरपर पड़ी।

'यह चादर तो वे ले गये थे—यहां कैसे ?' वह भेद समझ गई—उन्होंने देख लिया। मन में बहुत डरी। बड़ी बेचैन रहने लगी। सोचा चिट्ठी में जरूर बुरा-भला लिखेंगे। चिट्ठी आई—मगर कुशल-समाचार व प्रेम-वार्ता के सिवा कुछ नहीं ! उसने मन को समझाया—जब घर आयंगे तब जरूर कसर निकालेंगे।

"ब्राह्मण घर आया। बड़े प्रेम व अपनेपन से मिला। इस बीच चिन्ता व डर के मारे ब्राह्मणी सूखकर कांटा हो गई थी। जब रात को भी ब्राह्मण ने कुछ नहीं कहा—तब ब्राह्मणी बड़े विस्मय में पड़ी। यह मनुष्य हैं या देवता ? देखा तो जरूर, मगर कहते कुछ नहीं। अपने आप ही कुकर्म का पछतावा उसे हुआ व उसका जीवन बदल गया। ब्राह्मण बारीकी से उसके इस परिवर्तन को देखकर मन-ही-मन सन्तुष्ट होता रहता था। मरते दम तक उसने ब्राह्मणी को इस बात का परिचय नहीं दिया कि उसने कुछ देखा था। ब्राह्मण की मृत्यु पर ब्राह्मणी फूट-फूटकर रोती है। अड़ोस-पड़ोस की औरतें ताना देती हैं—जैसी पतिव्रता है सो हम जानती हैं ! क्यों मुहल्ले वालों की नींद हराम करती है ? वह बड़े दुखी स्वर से जवाब देती है—तुम क्या जानो, वह कैसा देवता था ? तुम ऐसे समय भी मुझे कोस रही हो—उसने देखकर भी मुझ पर परदा डाला। उसने मुझे उबार लिया। दुनिया में उघारने वाले सब हैं, ढांकने वाला नहीं। तुम उघारने वाली हो, वह ढांकने वाला था। हा ! आज दुनिया में मेरा ढांकने वाला नहीं रहा।"

सुधार का कैसा अनुपम व चमत्कारिक उपाय है यह ! हममें से कितने हैं जो दूसरों के दोषों की चर्चा करते समय, उसमें रस लेते समय इस बात को याद रखते हैं कि हम कैसे हैं ? फिर दूसरों को ढांककर सुधारने की दिव्यता तो विरलों में ही पाई जाती है। खुद अपने दोष दुनिया के सामने रखना एक बात है। दूसरे के दोष दुनिया को सुनाना दूसरी बात है। अपने दोष सुनाने से अपनी शुद्धि होती है व दुनिया अपने से सावधान ! दूसरों के दोष सुनाने से हम कीचड़ में पड़ते हैं,

प्रतिहिंसा के पात्र बनते हैं, व दुनिया में कीचड़ उछालने की जिम्मेदारी लेते हैं। 'पिशुन पराये पाप कहि देहीं'। जान-बूझ कर अकारण पराये पाप सुनना 'अव्यापारेषु व्यापार' है, संस्कारहीनता का सूचक है व उसमें रस लेना दुष्टता का परिचायक है।

इस कहानी का ऐसा असर मुझ पर हुआ कि अब 'अधिक ढांकने' की तरफ भले ही गलती मुझसे हो जाय, किसी का 'पर्दाफाश' करना मेरे लिए नागवार हो जाता है। कर्त्तव्यवश मुझे किसी की बुराई व बुरी बातें सुननी पड़ती हैं, लेकिन भीतर से यही आवाज उठती रहती है कि ईश्वर मुझे इससे बचा। मुझे मन में कई बार आश्चर्य होता है कि मनुष्य कुकर्म में एक-दूसरे को कैसे लिप्त कर लेते हैं? उनका हौसला कैसे होजाता है? एकाध मित्र से कभी पूछा तो उन्होंने कहा—दा साहब[1] यह दुनिया ही अलग है। इसमें रहने वाले एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। उनकी आंखें ही एक-दूसरे को अपना परिचय दे देती हैं। और वे खिंच जाते हैं। ऐसे मामलों में अधिकांश लोगों का यह अनुभव है कि पुरुष स्त्री को बिगाड़ता है। मुझे भी यह सच मालूम होता है। लेकिन काशी का मेरा अनुभव इससे उल्टा है। दो घटनाएं खुद मेरे साथ ऐसी हुईं जिनमें स्त्रियों ने हरकत की। एक जवान विधवा थी। जिस घर में हम किराये पर रहते थे उसी में वह भी अपनी बुढ़िया सास के साथ रहती थी। मैं रात में छत पर सोया हुआ था। वह एकाएक आ गई और मुझे जगाया। मैं एकदम जागा व चौंककर पूछा—क्या बात है, क्या हुआ! वह चुप। मैंने झुंझलाकर कहा—आखिर बताओ, तुम क्यों आईं? उसने कहा—तुम कुछ समझते नहीं? अब तो मेरे पसीना-पसीना होगया; और मैंने आवाज दी—'दत्तू!' इतने में वह नीचे खिसक गई। मुझे बड़ी मुश्किल से नींद आई। सुबह मैंने सब हाल दत्तू से कहा और हमने मकान बदल दिया।

१—मेरे साथी मुझे इसी तरह सम्बोधन करते हैं। यह 'दादा साहब' का छोटा रूप है।

एक दूसरे मकान में एक ब्राह्मण-दम्पति रहते थे। एक रोज मैं जीना चढ़ रहा था—उधर से ब्राह्मणी उतरी। रास्ते में उसने सहसा मेरा हाथ पकड़ा और अपने वक्षस्थल पर लगा दिया। मेरे रोंगटे खड़े होगए। मैं हाथ छुड़ाकर ऊपर भागा। कई बार मन में आया कि उसके पति से कह दूं। लेकिन एक तो यह कहानी याद आ जाती थी, दूसरे मन में सोचता—हमें अपनी पढ़ाई से मतलब। इन फालतू बातों में क्यों पड़ें? हम अपनी संभाल रखें—बस खत्म!

एक स्त्री ने एक बार हमारी छत पर चिट्ठी डाली। उसमें मुझे भाई सम्बोधन किया था। अपना दुखड़ा रोया था—पति के त्रास से बचाने की प्रार्थना की थी। पहले दो स्त्रियों से मैं डर चुका था—और हम विद्यार्थी उसकी सहायता भी क्या कर सकते थे? हमने अपनी असमर्थता प्रकट करके उससे माफी मांग ली।

मैं मन में विचार करता हूं कि उन स्त्रियों ने मुझे ही क्यों अपना शिकार बनाना चाहा? मुझे ऐसा लगता है कि मेरी खूबसूरती इसका कारण होगी। बचपन में मैं बहुत सुन्दर दीखता था। मेरी मां व मौसियां कहा करती थीं कि एक वेश्या मेरी सुन्दरता पर रीझ कर मुझे गोदी में उठाकर नाचा करती थी। अब उनके दिल की बात वही जानें।

मेरे मन में यह सवाल भी उठा कि मैं बच कैसे गया? इसके तीन कारण मुझे मालूम होते हैं—

१—पवित्र जीवन व्यतीत करने की मेरी प्रतिज्ञा।

२—मेरे परिवार का शुद्ध वातावरण।

३—स्त्रियों से सम्पर्क बढ़ाने की ओर अरुचि और उनकी प्रवृत्तियों व गति-विधियों के प्रति उदासीनता।

काशी में, तथा बाद में कानपुर रहते हुए, मैंने नियम-पूर्वक इस बात का ध्यान रखा है कि गंगा जाते हुए देव-दर्शन करते हुए, स्त्रियों की तरफ कतई न देखूं। दृष्टि-दोष से भी अपने को भरसक बचाऊं। इन्हीं संस्कारों ने और सबसे बढ़कर भगवत्कृपा ने मुझे बचाया है।

: ८ :

सांप व भूत

काका साहब हमें हमेशा साहस की, कठिनाइयों में हिम्मत न हारने की बल्कि अपनी नई-नई सूझ-बूझ से रास्ता निकालने की, व अपने पांवों पर खड़े रहने की शिक्षा दिया करते थे। जब उन्होंने हमें काशी छोड़ा तब हममें से कोई भी न रसोई बनाना जानता था, न सौदासुल्फ लाना। पं० नागेश्वरजी[1] को हमारा गार्डियन बना गये थे। हमें यह सूझ नहीं पड़ता था कि कितना आटा, दाल, चावल पकाने के लिए निकालें व कैसे पकावें। बिना किसी से पूछे ही हमने अनुभव व अक्ल से सब काम सीखे। बहुत कमखर्ची से काम लेते थे। बीमार होने पर भी इक्का नहीं करते थे। रात में दिया नहीं जलाते थे। दियासलाई सिरहाने रखकर अंधेरे में सोते थे। एक रोज रात को मेरी उंगली में किसी जानवर ने काट खाया। मैं हड़बड़ा कर उठा और शक हुआ कि कहीं सांप न हो। दिया जलाकर देखा तो उंगली पर जरा से खून का दाग था। मेरे एक फुफेरे भाई को सांप ने काट खाया था। सब लोग इसी भरोसे रह गए कि चूहे ने काटा होगा और वह मर गया। मुझे अन्देशा हुआ कि कहीं सांप न हो और मैं चूहे के भरोसे रह जाऊं। कमरा देख डाला, मगर सांप मिला न चूहा। दत्तू घबरायगा—इसलिए उसे जगाया नहीं। हिंदी की एक पाठ्य-पुस्तक में 'सांप के काटे के इलाज' पढ़े थे। मैंने फौरन सुतली से उंगली व कलाई पर बंद बांध दिये। चूल्हा जलाया व कढ़ाई में तेल

१—उस समय के हिन्दू कालेजिएट हाईस्कूल के एक हिंदी शिक्षक।

डालकर उसे चूल्हे पर चढ़ा दिया। चाकू निकालकर पास रख लिया। मिश्री व नमक पारी-पारी से खाता। सोच लिया था कि जहां स्वाद में फर्क आया कि चाकू से उंगली उड़ाकर तेल में भून दूंगा। घण्टे-डेढ़ तक मिश्री व नमक का प्रयोग करता रहा। इस परीक्षा से तो सांप के काटने के लक्षण नहीं जान पड़ते थे। मगर नींद बहुत आती थी। यह विपरीत चिह्न था। आखिर मैं थक गया और चूल्हा बुझाकर ईश्वर का नाम लेकर सो गया। काका साहब की सिखावन याद आगई—मौत लिखी होगी तो टलने वाली नहीं। दूसरे दिन मैंने दत्तू को किस्सा सुनाया और बड़ी मुश्किल से हाथ के बंद काटे। वह बिगड़ा कि मुझे जगाया क्यों नहीं? कुछ होगया होता तो काका साहब क्या कहते?

एक बार एक भयंकर सपना आया, जिसमें मेरे साहस की परीक्षा हुई। मैं बरामदे में सो रहा था। सपने में मैंने करवट बदली तो अपनी कोठरी में कई चिराग जलते हुए दिखाई दिये। मैं विचार करने लगा कि दिया तो बुझा दिया था फिर ये इतने दिये कैसे? शक हुआ कि कोई भूत लीला है। मैं चित सो गया। देखता क्या हूं कि सामने दूर एक भिखारी खड़ा है। शक्ल उसकी रविवर्मा के भील के वेश में शिवजी वाली तस्वीर की तरह। मैंने उसे घूरकर देखा तो उसकी एक टांग मेरी नाक तक आती हुई दिखाई दी। अब मुझे विश्वास होगया कि भूत से पाला पड़ गया। इतने में वह मेरी छाती पर दोनों ओर पैर पसारकर खड़ा होगया। मैंने सोचा कि डर जायंगे तो यह ले डालेगा। सुना था कि भूत-पलीत उसके सिर होते हैं जो उनसे डरते हैं। मैं उससे अंग्रेजी में बातें करने लगा—इस खयाल से कि यह समझ लेगा कि अंग्रेजी-दां हैं, इन पर हमारा जादू नहीं चलेगा। अब क्या देखता हूं कि उसका सिर आसमान तक चला गया है। तो मैं हिम्मत हारने लगा। लेकिन याद आया कि महावीर व दत्तात्रेय का नाम लेने से भूत भाग जाते हैं। मैं जोर से बोलने लगा दत्तात्रेय—दत्तात्रेय। पास में मेरा भाई दत्तू—दत्तात्रेय—सो रहा था। वह उठा उसने आवाज दी—दा साहब, दा

साहब, क्या बात है ? बस भूत रफू-चक्कर हुआ—मैं झटके से उठ बैठा। मेरा शरीर पसीने से तर था।

इस समय बरमंडल की एक साहस की घटना याद आ रही है। मेरी उम्र कोई १३-१४ साल की होगी। तहसील में खबर आई कि शेर ने एक गाय मार डाली। काका साहब नहीं थे। तहसील से सिपाही व तड़वी (भील चौकीदार) बन्दूकें व तीर-कमठे लेकर घटनास्थल पर पहुंचे। मैं भी साथ गया। आम के एक बाग में कुछ दूर से सिपाहियों ने पीछे की ओर आवाज दी—होशियार शेर आ रहा है। मैं पीछे अकेला पड़ गया था। मेरे सामने से वह छलांग मारता हुआ निकला, मैं एक आम के पेड़ में दुबक रहा। लेकिन डरा नहीं। शेर एक करौंदे की झाड़ी में छिप गया। सिपाही उसे तलाशते फिरते थे। साथ-साथ मैं भी। गांव के कुछ लोग भी दूर-दूर से तमाशा देखते थे। एक झाड़ी में सिपाहियों को शक हुआ। मुझे उन्होंने मना किया—हरि भैय्या, आप सामने वाले टीले पर चढ़ जावें। मैंने कहा—नहीं, मैं तुम लोगों के साथ रहकर देखूंगा। उन्होंने कहा—राव साहब (काका साहब) यहां नहीं हैं। हम यह जिम्मेदारी नहीं लेंगे। आप दूर चले जाइए। मैं मजबूर हुआ। सिपाहियों ने झाड़ी में पत्थर फेंके। बिजली की तरह शेर झपटा और हीरा (एक सिपाही) के साथ गुत्थम-गुत्था होगया। शेर की गरज सुनते ही मैं टीले से झाड़ी की ओर लपका कि इतने में बन्दूकों के फैर की आवाज आई। मैं उस तक पहुंचता हूं तब तक तो शेर ढेर हो चुका था और हीरा बुरी तरह घायल। उसने शेर के कान दोनों हाथों से पकड़ लिये थे, और छाती पर चढ़ बैठा था। मगर वह इस बुरी तरह घायल हुआ था कि राम-राम करके बचा। छः महीने में जाकर बिस्तरे से उठा।

हीरा की बहादुरी मेरे हृदय में अङ्कित होगई। यह जी में आया कि कहीं ऐसा अवसर आवे तो मैं ऐसी निडरता व दिलेरी का परिचय दूं। जब कभी कोई भय की आशंका सामने आती है तो यह दृश्य मेरी आंखों के सामने आ जाता है व मुझे साहस प्रदान करता है।

: ६ :

सात्विक भोजन

काशी के अपने जीवन[1] की कुछ घटनाओं व अनुभवों का उल्लेख करना जरूरी है, जिन्होंने मेरे जीवन को साहस व अहिंसा की ओर प्रेरित किया है। एक है आचार्य दिवेकरजी की दिनचर्या। ये ग्वालियर के विक्टोरिया कालेज में अध्यापक थे। राजनैतिक षड्यंत्र में गिरफ्तार हुए और शायद १॥ साल की सजा पाई थी। छूटकर हिन्दू कालेज में एम. ए. में भर्ती हुए थे। जब वे बनारस आये ही थे कि मेरा परिचय होगया। एक तो दोनों ग्वालियर-राज्य के, फिर देश-भक्ती की परीक्षा में पास। बरमंडल से ही मेरे हृदय में बंगाल व महाराष्ट्र के बलिवीरों के प्रति आदर-भाव पैदा होगया था। सावरकर, कन्हाईदत्त, खुदीराम, इत्यादि के नाम सुनने से एक अजीब भक्ति-भाव मन में लहराने लगता था। दिवेकरजी को देखकर स्वभावतः ही मेरे दिल में एक आकर्षण हुआ। उन दिनों उनके पास ४) मासिक की एक ट्यूशन थी। दोनों वक्त लूखी बाटी, आम के पने के साथ खाते हुए मैंने उन्हें देखा। खुद हाथ से बनाते थे।

हर काम खुद हाथ से करते थे और वह भी इस स्पिरिट से कि दूसरे को सिखा सकें। उनकी हर बात नमूना होती थी। सुबह २ बजे से उठकर पढ़ते—सूर्योदय से पहले गंगा-स्नान करते। मैं भी उनके साथ अक्सर सोया करता जिससे रात में उठकर उनके साथ कुछ पढ़ सकूं। वे पढ़ाई में भी व 'औदुम्बर' के संपादन में भी मेरी हर तरह से सहायता करते। अपना

१—१९११ से १९१४ ई० तक।

प्रिय शिष्य समझते थे। उनकी सादगी, श्रमशीलता, उच्च विचार, नियम-निष्ठा, पवित्रता एक-से-एक बढ़कर थे। इनके सहवास व अर-मण्डल के संस्कारों से मेरे मन में यह भावना दृढ़ हुई कि मैं लोकमान्य की तरह देश-सेवा करूं। 'केसरी' की तरह हिन्दी में अखबार निकालूं। इसके लिए यह तय किया था कि बी० ए० करके लोकमान्य के पास ही कुछ समय रहकर अखबार-नवीसी व देश-सेवा की प्रत्यक्ष तालीम लूं। आगे चलकर यह संकल्प दूसरी तरह से पूरा हुआ। द्विवेकरजी के जीवन ने मेरे जीवन को आदर्श की तरफ खींचते रहने में बड़ा काम किया। मुझे विश्वास होता है, और द्विवेकरजी भी इस बात को मानते हैं, कि यदि वे कर्वे साहब के पास[1] न चले गए होते तो आज वह बापू के निकटवर्तियों में होते।

हम लोग दूध विनायक पर किवे के बाड़े में रहते थे। वहां मंदिर के पुजारी थे भड़कमकर। उन्हें हम सब मास्टर साहब कहते थे—मंदिर में ही एक छोटी-सी चटशाला उन्होंने खोल रखी थी। काशी के 'गुरुओं' की तरह वे भंग-बूटी, ज़र्दा-तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी सब गुण-निधान थे। जजमानों के लिए 'बूटी' छानते व खुद भी चढ़ाते। दिन में कई बार नम्बर आ जाता। उनका एक भतीजा था महादेव। वह बीड़ी पीने लगा। मास्टर साहब ने द्विवेकरजी से शिकायत की। उन्होंने कहा—जिसके चचा सब गुण-निधान हों, वह एक गुण से भी गया! मास्टर साहब के दिल को बड़ी चोट लगी। उन्होंने उसी क्षण संकल्प किया कि आज से सब छोड़ा। हमें विश्वास नहीं हुआ। हमने कहा—मास्टर साहब, पान-तम्बाकू की छुट्टी रखिए। सब व्यसन एक साथ नहीं छूट सकेंगे। लेकिन उस तेजस्वी ब्राह्मण ने सबका एकदम बहिष्कार कर दिया—यहां तक कि जज-मानों को भंग घोटकर पिलाते, मगर उनके बहुत दबाने पर भी खुद नहीं

१—द्विवेकरजी एम० ए० करके म्योर सेन्ट्रल कालेज में प्रोफेसर हुए थे—बाद में वे अध्यापक कर्वे के साथ महिला विद्यालय में काम करने पूना चले गए और १४ साल तक वहां रहे।

पीते। वरसों तक उन्होंने इस व्रत को निवाहा। अपने जीवन में तो मैंने पहला ही उदाहरण यह देखा। तुल जाने पर मनुष्य क्या नहीं कर सकता?

हम लोगों की मण्डली के सादे, व्यसनहीन, पठन-पाठनमय जीवन की छाप, जो हमारे सम्पर्क में आता उस पर पड़ती। मेरे रिश्ते के एक वड़े भाई 'औदुम्बर' में काम करने के लिए आये थे। वे सिगरेट पिया करते थे। जब भडकमकर ने प्रतिज्ञा की तो मैं उन्हें ताने-उलहने से इशारा करने लगा। एक रोज उन्होंने भी सिगरेट न पीने का वादा किया, मगर निभा नहीं। इससे वे इतने शर्मिन्दा होते थे कि मेरे सामने कभी सिगरेट नहीं पी, जैसे किसी वड़े का अदव करते हों।

स्वर्गीय पं० वालकृष्ण भट्ट, पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' डा० लक्ष्मीचन्द्र, वा० श्यामसुन्दरदास, तथा विद्यमान पं० रामनारायण मिश्र, रायकृष्णदास, डा० भगवानूदास के परिचय में आने का इन्हीं दिनों अवसर मिला। पं० वालकृष्णजी वड़े खरे आदमी थे। कहते, हिन्दुस्तान के मां-वाप गोली मार देने लायक हैं। वे वचपन में अपने लड़के-लड़कियों की शादी करके वड़ा अनर्थ करते हैं। डा० लक्ष्मीचन्द्र कहा करते थे कि मैंने विज्ञान में दुनिया की वड़ी-से-वड़ी डिग्रियां प्राप्त की हैं लेकिन मैं अनुभव करता हूं कि ये कालेज—विश्वविद्यालय वेवकूफ वनाने के कारखाने हैं।

'औदुम्बर' के संचालन-काल के कुछ संस्मरण अव भी मेरे दिल को उभार दिया करते हैं। पं० देवीदत्त शुक्ल (सरस्वती-सम्पादक) उन दिनों काशी में संस्कृत पढ़ा करते थे। उनकी 'ब्राह्मण' नामक कविता शायद पहली वार 'औदुम्बर' में छपी थी। वावू श्रीप्रकाश के कुछ लेख पहली वार 'औदुम्बर' के द्वारा हिन्दी-जगत् के सामने आये। 'औदुम्बर' के लिए दिवेकरजी ने हिन्दी लिखना सीखा। 'औदुम्बर' की सेवाओं ने मुझे आचार्य द्विवेदीजी की सेवा में पहुंचाया।

इस काल ने मेरे भावी जीवन को गढ़ने में वड़ा काम किया है। उन दिनों काशी में आर्य-समाज व सनातन-धर्म के विद्वानों के खूब शास्त्रार्थ हुआ करते थे। एक वार आर्यमुनिजी व पं० रामावतार शर्मा का शास्त्रार्थ

हमने टाउन हाल में सुना था। पं० रामावतार शर्मा भारत में पहले एम० ए० व साहित्याचार्य थे। दूसरे हुए थे दिवेकरजी। शर्माजी स्वतंत्र व मौलिक विचारक थे। उन्होंने 'प्रत्यक्ष दर्शन' नामक एक नवीन दर्शन की रचना की थी। उसी के सम्बन्ध में यह शास्त्रार्थ हुआ था। आर्य-समाज में उन दिनों स्व० पं० केशवदेव शास्त्री बहुत चमक रहे थे। बड़े होनहार मालूम होते थे। उनकी प्रतिभा व तेज से मुझे ऐसा लगता था कि ये दूसरे दयानन्द होंगे।

यहीं स्वामी सत्यदेवजी से परिचय हुआ। अमरीका से लौटने पर उन्होंने काशी में एक आश्रम या सत्संग-जैसा शुरू किया था। भिन्न-भिन्न विषयों पर व्याख्यान या उपदेश देते थे। उनके वहां के प्रथम भक्तों में मैं भी था। मैंने शुरू से ही इस बात का ध्यान रखा था कि संगत अपने से बड़े, अच्छे व ऊंचे लोगों की करनी चाहिए। भले ही उनके समाज में हम छोटे, क्षुद्र, या हेय भी समझे जावें। इससे ज्ञान, अनुभव, संस्कारिता की वृद्धि तो होती ही है, अभिमान नहीं बढ़ने पाता। यही कारण है जो इतनी छोटी उम्र में मैं इन बड़े लोगों के सम्पर्क में आ गया और इनके जीवन, सत्संग व उपदेशों से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। किसी भूखे-प्यासे की तरह मैंने काशी के वातावरण से जितना सात्विक व पौष्टिक खाद्य-पेय मिल सकता था, पाने में कसर नहीं रक्खी थी।

बापू के दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह की भनक कानों में आती रहती थी। कोई नई चीज बन रही है, ऐसी छाप हृदय पर पड़ती थी। निजी जीवन में तो दूसरों को कष्ट न पहुंचने देने की वृत्ति बढ़ रही थी—मगर सार्वजनिक, खासकर राजनैतिक जीवन में 'हन्ते को हनिये, पाप दोष ना गनिये' के सिद्धान्त का बोल-बाला था। जब लोकमान्य तिलक, प्रोफेसर परांजपे की गिरफ्तारी की खबर मैंने बरमंडल में सुनी थी तब मुझे ऐसा लगा था मानो कोई अनर्थ होगया—अघटित घटना होगई। खून ऐसा उबलने लगा मानो बुखार आगया हो। मांडले में बन्द लोकमान्य मेरे हृदय-देव बने हुए थे।

: १० :

मातृ-हृदय

मैट्रिक कर चुकने के बाद मैंने पूना जाकर बी०ए० करने की योजना बनाई। इन्हीं दिनों आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने दिवेकरजी से कहा कि मुझे एक अच्छे सहायक की जरूरत है। 'औदुम्बर'की बदौलत दिवेकरजी 'सरस्वती' में लिखने और द्विवेदीजी के सम्पर्क में आने लगे थे। उन्होंने मुझसे कहा—'सरस्वती' में जाते हो? तीन साल पूना में बी० ए० पास करोगे तब तक तीन साल में द्विवेदीजी के पास पत्र-संपादन का अमली अनुभव हो जायगा। आखिर डिग्री लेना तो तुम्हारा उद्देश्य है नहीं। हिन्दी में पत्र निकालना है तो लोकमान्य की अपेक्षा द्विवेदीजी से अधिक सीख सकोगे।' 'औदुम्बर'बन्द हो चुका था—मुझे यह सलाह जंच गई। द्विवेदीजी ने मुझसे पूछा—क्या लोगे? मैंने लिखा—रोटी-कपड़ा। उनके पास जाते हुए लोगों ने डराया—दुर्वासा हैं—तीन दिन में छोड़कर भागोगे। कोई उनके पास नहीं टिकता। इससे मेरा उत्साह दूना बढ़ गया। मेरी एक अजीब खासियत है। जब मेरे सामने कोई कष्ट, संकट या खतरे की दलील रखता है तो मुझे दूना उत्साह होता है। मन में आता है—करके देखें तो आखिर क्या डर या खतरा है। काका साहब शिक्षा दिया करते थे कि खतरे के नाम से नहीं डरना चाहिए। खतरा कल्पना में ही भयंकर होता है। एक बार बरमंडल में हम दोनों घूमने निकले। एक कुएं में नीचे सांप जैसा कुछ दिखाई देता था। लोग नीचे उतरने से डर रहे थे। काका साहब ने मुझे भेजा

कि जाओ नीचे जाकर देखो, क्या है ? मैं साहस करके चला गया तो एक कपड़े की चिन्दी पड़ी हुई थी। यह घटना मुझे याद आगई। मैंने मित्रों से कहा, तो अब जरूर द्विवेदीजी के पास जाऊंगा। आखिर वे शेर तो हैं ही नहीं, जो फाड़ खायंगे। काम ही तो कसकर लेंगे। कभी गुस्से में सख्त-सुस्त कह लेंगे। मैं शिष्य-भाव से जारहा हूँ। उनके जूते उठाने व पोंछने में भी मुझे शर्म नहीं आने की। तब मुझे उनका आशीर्वाद क्यों न मिलेगा ?

उन्होंने सहायक संपादक की जगह मेरी नियुक्ति की। पहले एक मास तक प्रयाग—इंडियन प्रेस में रखा। जुही से काम भेज दिया करते थे। डा० जगदीशचन्द्र वसु का एक विज्ञान-सम्बन्धी तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का इतिहास-सम्बन्धी व्याख्यान अंग्रेजी में भेजा, कि इनका अनुवाद करके भेजो। भारत-सरकार की शिक्षा-विभाग व जेल-विभाग की रिपोर्टें भेजीं कि इन पर 'सरस्वती' के लिए टिप्पणी लिखो। विज्ञान-सम्बन्धी लेख व रिपोर्टें, मैंने समझा, मेरी परीक्षा के लिए भेजी थीं। पहले तो मन में आया कि लिख दूं, विज्ञान में मेरी गति नहीं है, और ऐसी टिप्पणियां आपके नजदीक रहने पर लिख सकूंगा। मगर मैंने सोचा कि यह तो बिसमिल्ला ही गलत हो जायगा। मैंने कोष के सहारे विज्ञान-संबंधी भाषण को ६-७ बार पढ़कर समझने का यत्न किया। फिर एक साइन्स मास्टर को खोज निकाला, जिन्होंने सारा लेख समझा दिया। मेरा अनुवाद पंडितजी को पसन्द आया। टिप्पणियों के लिए मैंने 'सरस्वती' की पिछले वर्षों की फाइलें निकालकर पंडितजी की तत्सम्बन्धी टिप्पणियां देखीं। उनसे मुझे काफी सहारा व मसाला मिल गया।

थोड़े ही दिन में पंडितजी खुद इलाहाबाद आये। कहा—हम तो जंगल में—जुही में—रहते हैं, चना-चबेना जो कुछ मिलता है, खा लेते हैं। तुम वहां रह सकोगे ? मैंने कहा, मैं तो वहीं आपके पास ही रहने के लिए आया हूं। मैं शहर की बस्ती से ऊब गया हूं। पांव पसारने भर के लिए जगह मिल जाय तो बहुत। आप चने-चबेने से काम चला लेते

हैं तो मेरे लिए घास-फूंस काफी होगा।

"तो मुझे लिख देना तुम्हारे लिए क्या-क्या इन्तजाम चाहिए, मैं सब कर रखूंगा।" उन्होंने आश्वासन-सा देते हुए कहा।

जब मैं जुही पहुंचा तो मेरे लिए सब चीजें तैयार मिलीं। पंडितजी ने बड़े अपनेपन से कहा—जो जरूरत हो मुझसे कह देना। संकोच मत करना। अपना घर समझना। बार-बार पूछने की मुझे आदत नहीं है।

"आप बेफिक्र रहें। मैं अपना सब काम खुद कर लूंगा। मुझे अपने लिए किसी को कष्ट देने की आदत नहीं है।"

रहने का स्थान तो मुझे सचमुच ऐसा मिला कि दिन में पांव पसारने को भी जगह नहीं थी। कमर्शल प्रेस के कंपोजखाने में कंपोजीटरों की तिपाई मेरी कुरसी बनी व एक डेस्क मिला, जिसके नीचे ईंटें चुनकर मैंने ऊंचा बना लिया। दिन में यहां काम करता, रात को मैदान में सो रहता। मैंने दो निश्चय कर लिये थे—पंडितजी कितना ही और कैसा ही काम लें, कभी नाक-भौंह नहीं सिकोड़ूंगा। कैसी ही असुविधाएं हों, कभी पंडितजी से शिकायत या कोई फरमायश नहीं करूंगा। पंडितजी ने काम भेजा नहीं, मैंने चट से करके लौटाया नहीं। शाम को काम भेजते तो रात को ही करके लौटा देता। १०-१२ दिन के बाद ही पंडितजी ने कहा—भई, इतनी मेहनत क्यों करते हो? जिसपर मैं जरूरी लिखूं उसे जल्दी कर दिया करो, वर्ना अपनी फुरसत से किया करो। गणेशजी[1] ने मुझसे कहा—मेरे बाद पंडितजी ने तुम्हीं से ऐसा कहा है। मैंने जवाब दिया—दूसरे लोग काम-चोर रहे होंगे। पंडितजी खुद डटकर काम करते हैं, तो दूसरे से भी ऐसा ही चाहेंगे। और मैं तो इसीलिए आया हूं कि खूब सीखूं और अनुभव लूं।

मैंने अनुभव किया कि पंडितजी की ऊपरी सख्ती या उग्रता में बड़े

१—शहीद गणेशशंकरजी विद्यार्थी। मुझसे पहले वे पण्डितजी के सहायक रह चुके थे।

कोमल व वत्सल पिता का ही नहीं माता का हृदय लहराता था। पंडितजी के भानजे-भानजी की बीमारी के समय इसका पता अच्छी तरह लगता था। मार्तण्ड को डबल निमोनिया होगया। पंडितजी ने जिस चिन्ता, सावधानी व जिम्मेदारी से उसकी चिकित्सा करवाई, वह सगे पिता से बढ़कर थी। एक रोज बिटिया[1] ने कहा—उपाध्यायजी, आज मामा से घर पर दाल नहीं खाई गई। मैंने पूछा—क्यों? उसने कहा—कहते रहे, आज मार्तण्ड दाल के लिए मचल रहा था—उसे दाल नहीं मिली, मुझसे खाई नहीं जाती। यह माता का हृदय बोल रहा था। ऊपर से कठोर दीखने वाले कई लोगों में मैंने ऐसा मातृ-हृदय देखा है।

पंडितजी का मुझ पर इतना विश्वास बढ़ा कि एक बार दौलतपुर जाते हुए अपनी लाइब्रेरी की चाबी मुझे दे गये। कहा—जो किताब चाहो पढ़ना। किसी को देना चाहो दे देना। बाबू भगवानदास[2] ने यह सुना तो कहने लगे—पंडितजी ने यह आजादी पहली बार आप ही को दी है। पुस्तकें वे किसी को छूने तक नहीं देते थे।

उनकी इस कृपालुता व विश्वास ने एक अजीब परिस्थिति पैदा कर दी थी, जिसका बड़ा मधुर अन्त हुआ। उससे मुझे पता लगा कि सरलता व भलमनसाहत में कितना बल और प्रभाव है। कई बार ऊपर से कठोर दिखाई देने वाले व्यक्तियों में कोमलता व करुणा के रूप में अहिंसा की धारा फल्गु नदी के सदृश बहती रहती है। अहिंसा का संबंध ऊपरी आवरण, बाहरी आचार से उतना नहीं है, जितना भीतरी भावना—वृत्ति से है।

१—कमला—पंडितजी की बड़ी भानजी। २—कमर्शल प्रेस के मैनेजर।

: ११ :

हृदय-परिवर्तन

पण्डितजी की पूंजी से कमर्शल प्रेस खुला था। बाबू भगवानदास उसके मैनेजर थे। वे पण्डितजी के गृह-प्रबंधक भी थे। पण्डितजी को वे पिता की तरह मानते थे। पण्डितजी भी उनपर भरोसा रखते थे। जब मुझपर पण्डितजी का प्रेम व विश्वास बढ़ने लगा तो भगवानदासजी को कुछ खटका हुआ। कुछ ऐसे कारण पैदा हुए, जिनका मुझसे कुछ वास्ता नहीं था, जिससे पण्डितजी ने यह प्रस्ताव रखा कि 'भगवानदास, प्रेस के बारे में तुम्हारी हमारी लिखा-पढ़ी हो जाय।' पण्डितजी ने भगवानदासजी से कुछ ऐसा व्यवहार भी शुरू किया जिससे उनका खटका और बढ़ गया। दस्तावेज़ का स्टाम्प लिखने के लिए पण्डितजी ने मुझे दिया। यह देखकर तो भगवानदासजी को पूरा शक होगया कि मैं भीतर ही भीतर कुछ कारस्तानी कर रहा हूं और पण्डितजी का प्रेम भगवानदासजी से कम कराके अपनी तरफ खींच रहा हूं। इधर दस्तावेज की एक शर्त मुझे कड़ी मालूम हुई। पण्डितजी ने भगवानदासजी का वेतन उसमें बहुत कम रखा था। मैंने जाकर पण्डितजी से कहा कि भगवानवासजी आपको पिता की तरह मानते हैं। बाल-बच्चेदार हैं, इतने वेतन में कैसे निभेगी? पण्डितजी ने कहा—हमसे तो उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैंने जवाब दिया—वे क्या कहते? यह तो आपके सोचने की बात है। पंडित-जी को मेरी दलील तो जंची नहीं मालूम हुई। लेकिन कहा—अभी तो

तुम वैसे ही नकल कर दो। इसके बाद भगवानदासजी दुखी रहने लगे। मुझे भी इससे दुःख रहा।

इसके बाद पंडितजी दौलतपुर गये। कुछ दिनों बाद मुझे भी वहां बुलाया। बा० भगवानदास दुःख व निराशा से पंडितजी के प्रति कुछ ऐसी बातें कह जाते जो मुझे अच्छी नहीं लगतीं। मैं उन्हें कहता—पण्डितजी कैसे ही सख्त हों, और मैं भी मानता हूं कि इस मामले में उन्होंने आपके साथ न्याय नहीं किया है, फिर भी आपने उन्हें पिता की तरह माना है। उनके प्रति अपने भाव में आपको फर्क नहीं आने देना चाहिए।

दौलतपुर में पण्डितजी ने मुझसे पूछा—'भगवानदास का क्या हाल है? कुछ कहते थे?'

'कहते क्या थे? दुखी रहते हैं। इतनी तनख्वाह में काम कैसे चले?'

'तो हमसे कहते क्यों नहीं?'

'कहें क्या—आप उनकी हालत क्या नहीं जानते?'

'तो तुम्हारी राय में क्या होना चाहिए?'

मैंने कहा, 'कम से कम······इतने तो होने ही चाहिएं।'

'अच्छा तो जब हम जुही आवें, वे हमसे कहें। इतना ही कर देंगे।'

जब मैं जुही लौटा तो भगवानदासजी ने पूछा—पण्डितजी मेरे बारे में कुछ कहते थे? मैंने कहा—हां। 'तो क्या कहते थे'? 'तनख्वाह के बारे में कहा कि भगवानदास हमसे कहते क्यों नहीं?' अब की पण्डितजी आवें तो आप कुछ कहिए।'

'नहीं, मैं कुछ नहीं कहूंगा। मैं उनके स्वभाव को जानता हूं। वे एक पाई ज्यादा नहीं देंगे।'

मैंने जोर देकर कहा—'आपका बिगड़ता क्या है? इससे कम तो कर नहीं लेंगे? और मैं समझता हूं आप भी पण्डितजी के साथ न्याय नहीं करते। आप एक बार कह तो देखिए।'

पण्डितजी दौलतपुर से आये व भगवानदासजी प्रेस के कागजात

लेकर उनके पास गये। जाते समय मैंने उन्हें याद दिला दिया कि पण्डितजी से तनख्वाह के बारे में जरूर कहना।

भगवानदासजी पण्डितजी के कमरे से हंसते व पुलकित होते हुए निकले। कहा—पण्डितजी ने ......कर दिये।

"मैं तो पहले से ही आपसे कह रहा था कि उनसे एकबार कहिए तो!"

कुछ दिन के बाद बाबू भगवानदासजी ने मेरे सामने एक प्रस्ताव रखा कि प्रेस में पण्डितजी, मैं व आप तीनों साझी होजायं। मैंने कहा—मैं यहां जिन्दगी बसर करने के लिए नहीं आया हूं। मैं तो सीखने व अनुभव प्राप्त करने के लिए आया हूं। मेरा कार्यक्षेत्र तो दूसरा है। प्रेस या पण्डितजी का जो काम हो आप मुझसे लेते जाइए। मैं साझे-बाझे के झगड़े में नहीं पड़ता।

उस दिन या दूसरे दिन शाम को हम दोनों साथ पाखाना फिरने जंगल में गये। रास्ते में भगवानदासजी ने कहा—पण्डितजी, मैं आपका बड़ा अपराधी हूं। मेरे दिल में बड़ा पाप भर गया था। मैं समझ गया था कि आप मेरे खिलाफ कोई षड्यन्त्र रच रहे हैं, अब मुझे विश्वास हो गया कि मेरा यह कितना भ्रम था। आपकी सरलता व सचाई की मैं दाद देता हूं। मैं आपके सामने शर्मिन्दा हूं।

मेरे लिए यह बोझ असहनीय हो रहा था। मैंने उनसे कहा—बाबू साहब, यह सब मुझसे मत कहिए। मेरे जी में न जाने क्या-क्या होता है। आपके दिल में जो कुछ होरहा था उसे सुनने की मुझे इच्छा नहीं है। आपके दिल को संभालना आपका काम है, सो आप कीजिए। मुझे ऐसी बातें सुनना अटपटा लगता है।

बाबू भगवानदास के इस हृदय-परिवर्तन ने मेरे सामने एक प्रकाश-पथ खोल दिया। मुझे तो आखिरी दिन ही और सो भी उन्हींके कहने से पता पड़ा कि उनके दिल में सांप-बिच्छू भर गए थे। अब मैंने समझा कि साझे का प्रस्ताव शायद मेरे दिल की परीक्षा के लिए रखा गया था। मैंने इस घटना से यह नतीजा निकाला कि मनुष्य को अपनी भलाई पर

ही कायम रहना चाहिए। कोई बुराई करता है या बुरा समझ लेता है तो वह बुराई ही उससे हिसाब चुकता कर लेती है।

अब मैं सोचता हूं तो यह अनजान में अहिंसा-वृत्ति का ही एक मधुर फल मालूम होता है।

: १२ :

धर्म की शोध

धर्म की ओर बचपन से ही मेरी रुचि है। पिताजी सुबह उठते ही रोज स्तोत्र-पाठ किया करते थे। सुनते-सुनते मुझे भी कई स्तोत्र याद हो गए थे। रामरक्षा, शिवकवच, नर्मदाष्टक मुझे बहुत भाते थे। जीजी कहा करती थी कि किसी साधु ने पिताजी को आशीर्वाद दिया था कि तुम्हें अच्छा पुत्र होगा। साधु-सन्तों व सत्पुरुषों की संगति में मेरा मन बड़ा लगता है। उनके प्रति सहज ही भक्तिभाव का अनुभव हृदय में करता हूं। यद्यपि मेरे हृत्पटल पर इन दिनों राष्ट्रीयता का रङ्ग चढ़ा हुआ था और अब भी चढ़ा हुआ है, तथापि धर्म-चिन्तन का जब मुझे मौका मिल जाता है तो मैं उसे छोड़ता नहीं हूं। जुही में मैंने गीता-रहस्य ध्यान से पढ़ा और साथ ही राजवाड़े का गीता-भाष्य भी। दोनों मराठी में पढ़े थे। विवेकानन्द के व्याख्यान भी इन्हीं दिनों पढ़ने को मिले। मोरोपंत की केकावलि की प्रोफेसर परांजपे कृत टीका भी पढ़ी। शास्त्र-रहस्य, व रागिणी इसके पहले ही पढ़ चुका था। इसके फलस्वरूप धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

एक बार मैं हमीरपुर की तरफ घूमने निकला तो मन में आया कि धर्म की कई व्याख्याएं लोगों ने की हैं। अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग मत हैं। हम स्वतंत्ररूप से ही क्यों न सोचें कि धर्म आखिर क्या है? इन ग्रंथकर्ताओं ने भी तो आखिर अपनी बुद्धि से ही धर्म का स्वरूप व लक्षण ठहराया है। तब हम भी अपनी बुद्धि से ही क्यों न इस प्रश्न को हल करें।

अब मैं सोचने लगा कि मनुष्य का धर्म कैसे जाना जाय? तो पहले यह सोचना चाहिए कि किसी वस्तु का धर्म जानने के लिए पहले क्या करना चाहिए। एक थाली मेरे सामने आई। यदि किसी अनजान को थाली दी जाय तो वह इसका धर्म कैसे निश्चित करेगा? नीचे की सतह और आसपास की ऊंची कोर या दीवार देखकर वह अनुमान करेगा कि यह किसी चीज को रखने के लिए बनाई गई है। अर्थात् उसकी बनावट से उसके धर्म का अन्दाज लगायेगा। इस निर्णय से मुझे कुछ समाधान हुआ। ऐसा मालूम हुआ कि हां, कुछ रास्ता हाथ लगा। अब मेरे सामने एक मेज आई। उसके पाये व ऊपर सपाट सतह देखकर यह अटकल होगी कि ऊंचे पर कोई चीज रखने के लिए यह बनाई गई है। है तो हम मनुष्य के धर्म का विचार उसकी बनावट से करें। अब तो मुझे ऐसा लगा मानो मैदान मार लिया।

अब विचार आगे चला। तो मनुष्य की बनावट को देखें। उसमें कई इन्द्रियां हैं और वे सब चलती-हिलती व काम करती हैं। तो मन में यह खयाल जमा कि इन इन्द्रियों का जो व्यापार है उसे होने देना ही मनुष्य का धर्म है। लेकिन तब प्रश्न उठा कि इन्द्रियों के व्यापार तो अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। तो क्या बुरे व्यापार भी धर्म हैं? हाथ से दान भी दिया जा सकता है और खून भी किया जा सकता है, तो धर्म क्या हुआ? मुंह से गाली भी दी जा सकती है, रामनाम भी लिया जा सकता है, तो धर्म क्या हुआ? उत्तर मिला, इन्द्रियों का सद्व्यवहार या सदुपयोग धर्म हो सकता है, बुरा व्यापार या दुरुपयोग नहीं। अब चित्त को समाधान मिल गया—यह निर्णय हुआ कि शरीर का—विविध इन्द्रियों का सदुपयोग मनुष्य का धर्म है। मन में खुशी हुई कि आखिर स्वतंत्र रूप से विचार करते हुए एक नतीजे पर पहुंचे। इससे यह आत्म-विश्वास बढ़ा कि किसी भी विषय पर स्वतन्त्र रूप से सोचा व निर्णय किया जा सकता है। तबसे पढ़ने की बनिस्बत मनन करने की प्रवृत्ति और बढ़ गई।

बाद में मैंने यह सारी प्रक्रिया शायद दिवेकरजी को सुनाई थी तो उन्होंने किसी विदेशी तत्त्ववेत्ता का नाम लेकर कहा था कि उसने इसी ढंग पर कर्त्तव्य का विचार किया है। तब मैं अपने मन में थोड़ा-सा फूला भी कि एक तत्त्ववेत्ता की पद्धति से मेरी पद्धति मिल गई।

फिर यह सवाल खड़ा हुआ कि सदुपयोग व दुरुपयोग किसे कहें? उत्तर सामने आया कि जिसका लोग आमतौर पर स्वागत करें वह सदुपयोग, जिसका विरोध करें वह दुरुपयोग। दान देने के लिए हमारा हाथ आगे बढ़ेगा तो सब उसको पसन्द करेंगे, मगर कत्ल करने के लिए उठेगा तो विरोध होगा। किसी को गाली दी जायगी तो लोग विरोध करेंगे, बुरा कहेंगे; भगवान् का नाम लिया जायगा तो लोग खुश होंगे, अच्छा कहेंगे। यह कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था, व्यावहारिक था; मगर इससे मेरा काम चल जाता था और मुझे सन्तोष भी होगया था। मुझे धर्म की यह अच्छी काम-चलाऊ व्याख्या मालूम हुई। बाद में तो मैंने धर्म, नीति, अध्यात्म, आदि विषयों का भरसक इतना अध्ययन भी किया जिससे मेरा बौद्धिक समाधान होसका। सबका निचोड़ यह निकला कि धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान सबका आधार हमारा चित्त है। उसी को सम, शांत, स्थिर बनाना सारे धर्मों के उपदेश का सार है। सद्गुणों की वृद्धि, दैवी संपदा का विकास, या सात्विकता के उत्कर्ष से ही ऐसी स्थिति को पहुंचा जा सकता है। और अहिंसा का उन सब में पहला स्थान है।

: १३ :

दौलतपुर में

उन दिनों पण्डितजी किरातार्जुनीय का अनुवाद करते थे। एक घण्टा रोज मुझे लिखाया करते थे। जब दौलतपुर गए तो उन्होंने चाहा कि मैं भी वहां चलूं। अपने मकान के पास मेरे लिए उन्होंने एक फूंस की झोंपड़ी बनवाई, जिसका नाम पड़ गया 'हरिबाबू का बंगला'। दीवार में कच्ची ईंटें वैसे ही जमाकर खड़ी कर दी गई थीं। दौलतपुर गंगा किनारे था। गंगा पार करके वहां जाना पड़ता था। कुछ तो नाव से व एक-दो जगह वैसे ही छाती तक पानी में चलकर पार की जाती थी।

खाना मैं अपने हाथ से बनाता था—दोनों जून। कभी मैंने आलस्य-वश एक बार खाना बनाकर दोनों बार नहीं खाया। चौका-बरतन बहुत बार खुद ही किया करता था। दौलतपुर से कुछ दूर भोजपुर में हाट लगती थी और रोजमर्रा की जरूरत का बहुत-सा सामान आठवें दिन हाट से लाना पड़ता था। एक बार किसी कारणवश हाट से चीजें मंगाना रह गया और एक दिन मेरी टपरिया में सिवा एक लौकी के खाने की कोई चीज नहीं रह गई। पण्डितजी के यहां से मंगा सकता था, लेकिन संकोची और कुछ मनचले स्वभाव ने कहा—आज लौकी पर ही गुजर कर लेंगे। लौकी पकाकर जब मैं खाने बैठा तो तकदीर से पण्डितजी आ गए। 'हैं' यह क्या? आज सिर्फ लौकी ही लौकी?' मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया, मानो चोर सेंध के मुंह में पकड़ लिया गया हो।

'पण्डितजी, हाट से चीजें मंगानी रह गईं......'

'भले आदमी, घर में क्यों नहीं कहला दिया—क्या घर पै चीजें नहीं रहतीं ?'

'हां, सो तो ठीक है, पर मैंने कहा चलो, आज लौकी पर ही गुजार दें।'

'वाह—तुम भी खूब आदमी हो। बिटिया, देखो आज से जब उपाध्याय-जी खाना खाने लगें तब आकर देख जाया करो, दाल न बनावें तो दाल, साग न बनावें तो साग घर से दे जाया करो। इनका भरोसा मत किया करो।'

पण्डितजी की इस उदारता ने मुझे शर्मिन्दा तो किया ही, सदा के लिए उपकारबद्ध भी कर लिया। उनके वात्सल्य का एक और नमूना याद आ रहा है।

पण्डितजी को आम खाने का बड़ा शौक था। मीठे व पतले रस के आम बहुत पसन्द करते थे—ऐसे ही आम दरअसल गुणकारी होते हैं। छः महीने वे आम खाकर ही रहते थे। आम चूस कर ऊपर से दूध पीते थे। सुबह के भीगे आम शाम को, शाम से भिगोये आम सुबह चूसते थे। रस नहीं पीते थे। ऐसे मीठे आमों के कई बाग खरीद लिया करते थे। मीठे फल के आम अपने लिए सुरक्षित रखकर सारा बाग गांव के लोगों के लिए छोड़ देते थे। अपने लिए सुरक्षित आमों में से दूसरों को प्रसंगवश ही दिया करते थे। एक बार न जाने क्या मन में आई। मुझसे पूछा—हमारे खाने के आम कभी तुमने खाये हैं या नहीं। मैंने उत्तर दिया—नहीं तो। तो तुमको कौन-कौनसे आम यहां के पसन्द आये ? मैंने कहा—मैं ठीक नहीं कह सकता। 'क्यों ?' 'मैंने बहुत कम आम यहां खाये हैं।' 'ऐं—क्या कहते हो; इतने आम लोग मुफ्त खाते हैं और तुम क्यों नहीं ले आते हो ?' मैंने नीचा सिर कर लिया, कोई जवाब न बन पड़ा।

उन्होंने पुकारा—'बिटिया, देखो आज से दोनों जून उपाध्यायजी को हमारे खाने के आमों में से कुछ आम दे आया करो। इन्होंने तो अभी

तक यहां पेट भर के आम खाये ही नहीं।

किसी आदमी को आवाज देकर कहा—'देखो, उपाध्यायजी के लिए बाग से अच्छे आम ले आया करो। ये बहुत संकोची हैं।'

वास्तव में मेरा स्वभाव इतना संकोची है कि अपनी मां व पत्नी से भी सहसा कोई चीज नहीं मांगता। तकलीफ चुपचाप सह लेना अच्छा मालूम होता है, मगर किसी से कहना व उसको कष्ट में डालना नहीं सुहाता। इस स्वभाव के लिए वरमण्डल की एक घटना कारणीभूत हुई है।

मुझे होरहा (हरे भुने हुए चूंट) खाने का बड़ा शौक था। कच्ची भुनी मूंगफली, भूभर में भुने आलू मुझे अच्छे लगते हैं। वरमंडल में एक बार होरहा घर में आया। दिन में मैंने खूब खाया। जब सोने लगा तो फिर खाने का मन हुआ और काकी से मैंने होरहा मांगा। उन्होंने एक सूप में लाकर रख दिया। मैं सब खा गया। सुबह मेरे चचेरे भाई-बहनों ने होरहा मांगा तो काकी ने उन्हें पीट दिया। होरहा था नहीं, रात को मैं सब सफा कर गया था। इस घटना का मुझे बड़ा पछतावा हुआ। रात को मैं यह नहीं समझा था कि काकी ने सारा-का-सारा होरहा मुझे दे दिया है। मुझे कुछ ऐसा लगा कि काकी ने नाराज होकर सब-का-सब मुझे दे दिया। दिन में खूब खा लेने के बाद फिर रात में मांगने से उनका नाराज होना था भी स्वाभाविक। मैंने अपनी इस भूल को इस जोर से महसूस किया कि मुझे कोई फरमाइश करते समय यह डर लगने लगता है कि यह अनुचित या असामयिक तो नहीं हो जायगी। भोजन करते समय इस बात का बड़ा खयाल रहता है कि कहीं मांगने से पीछे वालों के लिए कम तो नहीं रह जाय। इसलिए आम तौर पर जो कुछ परोसने के लिए सामने आ जाता है, उसी तक अपनी इच्छा को सीमित रखता हूं।

'हरि बाबू का बंगला' कच्ची ईंटों का था। बारिश के दिन आये। एक रोज रात को जोर की बारिश हुई। नीचे जमीन में पानी बह आया। रात का वक्त। मैं खटिया पर सो रहा था। एक तरफ की कुछ ईंटें गल-

कर गिर पड़ीं। अब मुझे डर हुआ कि सारी दीवार कहीं ढह गई तो मेरी खटिया इसी में दब जायगी। खटिया टपरिया के बीचों-बीच बिछाई व पड़ रहा। नींद तो कहां से आती। एक-दो बार विचार हुआ कि पण्डितजी को पुकार लूं। अव्वल तो आंधी-बारिश में आवाज पहुंचनी मुश्किल थी, दूसरे यह विचार आया कि देखो परमात्मा क्या करता है? थोड़ी देर के बाद एक तरफ की दीवार गिरी—तकदीर सिकन्दर थी कि वह झोंपड़ी के अन्दर नहीं बाहर की तरफ ढही। अब पानी की बौछार मेरी खटिया तक सीधी पहुंचने लगी। इतने में दीवार गिरने की आवाज सुनकर पण्डितजी जग पड़े। फौरन लालटेन लेकर आये। पूछा, क्या हुआ? मैंने हंसकर जवाब दिया—हमारा बंगला ढह गया।

सुबह गांव के बहुतेरे लोग 'हरिबाबू के बंगले' का तमाशा देखने जमा होगए। कहते—ईश्वर ने खैर की, कहीं दब जाते तो! बड़ों के पुण्य ने बचा लिया। मैंने जवाब दिया, पण्डितजी के पुण्य ने।

दूसरों को कष्ट में न डालने का भाव अहिंसा का ही एक अंग है। हिंसावादी को जो आनन्द या सन्तोष दूसरों पर प्रहार करने में, कष्ट पहुंचाने में होता है, वही अहिंसात्मक व्यक्ति को खुद कष्ट उठा लेने में होता है। सर्वतोमुखी संयम अहिंसा की स्थूल साधना है और असंयम हिंसा की तरफ ले जाने वाली प्रवृत्ति है।

: १४ :

तुनक-मिज़ाजी

तुनक मिज़ाजी अभिमान है, और अभिमान अखीर में जाकर हिंसा का ही एक रूप होता है, यह बात आज जितनी साफतौर पर समझ में आरही है उतनी उस समय नहीं थी, जबका किस्सा मैं लिख रहा हूं। हमारे आसपास की सत्य बातों का हमारे मन पर असर होना—होने देना एक बात है, व उस असर से बिना ज्यादा गहरा विचार किये कोई फैसला कर लेना दूसरी बात है। पहली वृत्ति सत्य-साधक या सत्याग्रही के लिए बहुत जरूरी है, उसके बिना वह सत्य को न तो पा ही सकता है, न साध ही सकता है। सत्य सूर्य की तरह है, जिसकी हजारों-लाखों किरणें चारों ओर फैल रही हैं। सत्यरूपी सूर्य चारों ओर अपनी किरणों को फेंकता है, परन्तु सत्याग्रही अपने चारों ओर उन प्रकाश-किरणों को ग्रहण करता है, आने देता है व उनके प्रकाश में अपने को—अपनी हर बात को हमेशा जांचता-परखता रहता है और उसके फल-स्वरूप अपने विचार-आचार-वृत्ति में फर्क करता रहता है। इसीसे वह नित नूतन, सजीव, आगे बढ़ता रहने वाला होता है। दूसरी तरफ, जो व्यक्ति सत्य की प्रकाश-किरणों को—आसपास की घटनाओं, मित्रों की सलाहों, तटस्थों की आलोचनाओं, विरोधियों की निन्दाओं, उपहासों, अपमानों, आदि को अपने पर पड़ने नहीं देता, दूर से ही रोक देता है, वह अन्धेरे में ही पड़ा रहता है व प्रगति नहीं कर पाता। किन्तु जो इन घटनाओं या आलोचनाओं आदि से भड़क कर झट से कोई कदम उठा लेता है, वह धक्के

खाता है, व पीछे थोड़ा-बहुत पछताता है। यही तुनक-मिज़ाजी है। बहुत अर्से तक मैं इसका शिकार रहा। अब भी जब मुझे ऐसा भास होने लगता है कि सामने वाला मुझे दबा रहा है, धौंस से काम लेना चाहता है, किसी की निन्दा करता या चुगली खाता है, बेकसूर ही मुझे उलहना देता है, जवाब तलब जैसा करता है, डांटना चाहता है, तो मेरा पारा चढ़ने लगता है। लेकिन अब मैं झट से कोई फैसला नहीं कर लेता। अपनी तुनक-मिज़ाजी की कुछ घटनाएं इस समय याद आ रही हैं।

आचार्य द्विवेदीजी मुझे पुत्र की तरह चाहने लगे थे। मेरे घर की बीमारियों वगैरा: के कारण दो-दो महीने ऐसे बीत जाते जब मैं 'सरस्वती' का कुछ काम न कर पाता था। परन्तु वे खुशी-खुशी ऐसा होने देते थे। बल्कि जब मैं ऐसे मौकों पर काम में लगने की कोशिश करता तो मुझे खुद मना कर देते। कभी उन्होंने मुझे डांटकर या झिड़ककर कुछ न कहा। लेकिन एक अवसर ऐसा आ ही गया। १९१८ में इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन महात्माजी के सभापतित्व में होने वाला था। स्वर्गीय डाक्टर सरजूप्रसादजी का पत्र मुझे मिला कि मैं एक मास पहले इन्दौर आकर सम्मेलन के लिए काम करूं। मेरा जी बहुत हुआ, परन्तु उन दिनों द्विवेदीजी की सम्मेलन वालों से कुछ अनबन थी। मुझे आशा नहीं थी कि वे मुझे इतनी लम्बी छुट्टी देंगे। परन्तु सम्मेलन में जाने का तो निश्चय मैंने अपने मन में कर लिया था—भले ही द्विवेदीजी मना करें, या मुझे इस्तीफा ही देना पड़े। इन्दौर—मेरे घर में सम्मेलन हो, गांधीजी जैसा कर्मवीर सत्याग्रही—उस समय महात्माजी 'कर्मवीर गांधी' कहलाते थे—उसका सभापति हो, और मैं सम्मेलन में शरीक तक न हो पाऊं—यह कल्पना ही मेरे लिए असह्य थी। इत्तिफाक ऐसा हुआ कि सम्मेलन की तिथियों के कुछ दिन पहले द्विवेदीजी अपने घर दौलतपुर चले गए थे। बाद में उनके व मेरे नाम विधिवत् निमन्त्रण इन्दौर से आया। इतना समय नहीं था कि मैं उनसे इजाज़त

लेकर इन्दौर जाता। अतः उनके नाम का निमन्त्रण-पत्र उन्हें भेजकर अपने इन्दौर जाने की इत्तिला उन्हें दे दी—लेकिन मैंने मन में समझ लिया था कि पण्डितजी को वह सहन न होगा और अब अपने को जुही छोड़नी पड़ेगी। मेरे सम्मेलन से लौटने के पहले ही पण्डितजी जुही आगये थे। लौटने पर जब पहली बार मैं उन्हें प्रणाम करने गया तो उन्होंने त्यौरी चढ़ाकर जरा तीखे स्वर में, जो मेरे सम्बन्ध में उनकी तरफ से नया था, मुझसे पूछा—'आप हमारी बिना इजाज़त इन्दौर कैसे चले गये?' उनका 'आप' शब्द मेरे लिए 'सजा' का काम देने लगा। मैंने जाब्ते की सफाई दे दी—इसके बाद उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा। मगर मुझे उनका इतना उलहना भी नागवार होगया। मैं एक तरह से तिल-मिला उठा। तुरन्त गणेशजी के पास कानपुर पहुंचा।

"अब पण्डितजी के पास रहने में लुत्फ नहीं, धर्म भी नहीं। अब तक उन्होंने मुझसे तीखे स्वर तक में बात नहीं की। आज एक ऐसी बात के लिए मुझसे जवाब तलब किया, जिसे मैं समझ तो सकता हूं, पर निगल नहीं सकता। मैं इसी महीने में यहां से काम छोड़कर इन्दौर चला जाऊंगा।" मैंने गणेशजी से कहा।

"जब पण्डितजी का इतना प्रेम व भरोसा आप पर है, इतने तेज मिज़ाज होते हुए भी आपको आज तक कभी रोका-टोका नहीं, अलिफ से बे नहीं कहा, तो इतनी-सी बात पर इतना बड़ा निश्चय करना ठीक नहीं। आप चले जावेंगे तो मेरी यह भविष्यवाणी है कि पण्डितजी एक साल से ज्यादा 'सरस्वती' में नहीं रहेंगे। आपका उन्हें बड़ा सहारा है।"

"मैं भी उन्हें पिता व गुरु दोनों की तरह मानता हूं। पर यह गोली निगलना मेरे लिए मुश्किल है। मैं जहां रहता हूं, घर समझकर काम करता हूं। किसी की डांट-फटकार आज तक सही नहीं। सम्मेलन वालों से लाग-डांट होने के कारण वे मुझे अपने घर के अधिवेशन में भी नहीं जाने देना चाहते थे—यह कैसे बरदाश्त किया जा सकता है?"

गणेशजी ने तरह-तरह से मुझे समझाया। मेरे भावी-हित की, पण्डितजी की असुविधाओं की दलीलें दीं—पर मेरा जी जो उचट गया सो उचट ही गया। एक महीने के अन्दर ही मैं इस्तीफा देकर इन्दौर चला गया।

दूसरी घटना 'प्रताप' प्रेस की है। शायद १९२० में गणेशजी ने मुझे अपना 'पर्सनल असिस्टेंट' बनाकर बुलाया। 'प्रताप' 'प्रभा' व उनके निजी कामों में सहायता देना मेरे जिम्मे हुआ। एक रोज 'प्रभा' या 'प्रताप' का आखिरी मशीन प्रूफ मेरी मेज पर आया। दो मिनट पहले ही मैं शौच के लिए जा चुका था। इसी बीच शिवजी[1] मेरे कमरे में आए। मुझे नदारद देखकर स्वभावतः नाराज हुए। मेरे आते ही जरा बिगड़कर बोले—'भाऊजी, हम तो आपको अपने घर का आदमी समझते हैं। देखिए मशीन-प्रूफ कब से पड़ा हुआ है, मशीन रुकी पड़ी है व नुकसान होरहा है।'

'मैं शौच गया हुआ था। बाद में प्रूफ आया है। पहले आजाता तो मैं 'आर्डर' करके ही शौच जाता। इसमें मेरा तो कोई कुसूर नहीं है। मैं भी घर समझकर ही यहां काम कर रहा हूं।'

वे खामोश रहकर चले गये। गणेशजी से मुलाकात होते ही मैंने इस्तीफा पेश कर दिया और वापस इन्दौर चला गया।

एक तीसरी घटना अहमदाबाद की है। 'हिन्दी नवजीवन' चालू हुआ ही था। मैं स्वामी आनन्द[2] के कहने से उनके 'नवजीवन क्लब' में रहने लगा था, हालांकि सत्याग्रहाश्रम (साबरमती) में रहने के लिए मकान मिल गया था। परन्तु शुरूआत के काम में मेरी दफ्तर में अधिक हाजिरी की आवश्यकता स्वामीजी ने बताई थी व खुद ही अपने क्लब में

---

१ 'प्रताप' के तत्कालीन व्यवस्थापक पं० शिवनारायणजी मिश्र।

२ स्वामी आनन्दानन्द 'नवजीवन' संस्था के तत्कालीन मंत्री व व्यवस्थापक।

रहने की प्रेरणा की थी। बाद में महोदयजी व गोपीवल्लभजी[1] भी वहीं ठहरे। भोजन खर्च के सम्बन्ध में कुछ बहस चल पड़ी तो आवेश में स्वामीजी के मुंह से निकल गया—'क्लब में' रहने दिया—यह हमारी मेहरबानी थी। मुझे यह तीर-सा लगा।' महोदयजी व गोपीवल्लभजी को भी बहुत बुरा लगा। दफ्तर से बाहर निकलते ही मैंने दोनों से कहा—

'मैं तो आज क्लब में खाना नहीं खाऊंगा। नया घर लेकर ही हम सब लोग अलहदा इन्तजाम क्यों न कर लें?'

सबको यह पसन्द हुआ व उसी दिन घूम-घाम कर नया मकान तलाश किया, सामान-बरतन मोल लिये व नये घर में खाना बनाकर खाया।

एक बात १९१७ की याद आ रही है। मैं जुही में रहता था। मेरे सबसे छोटे भाई बाबू ने, जो उस समय ३-४ साल का था, रास्ते में पाखाना कर दिया। मकान मालिक, जो मेरे मित्र ही थे, कहने लगे— 'उपाध्यायजी, तुम्हारे घर के लोग कैसे लापरवाह हैं, देखो यह रास्ते में टट्टी फिर रहा है।' यह उलहना मुझे इतना नागवार होगया कि मैं बेंत उठाकर अपनी पत्नी पर लपका। मां ने हाथ पकड़कर मुझे डांटा और बेंत छीन लिया। मैं मानता हूं कि कोई आदमी तभी शिकायत करता है जब उसकी सहन-शक्ति के परे हो जाता है। फिर जग्गी बाबू जैसे घनिष्ठ मित्र ने तभी शिकायत की होगी जब उनके लिए घर वालों की लापरवाही असह्य होगई होगी। यही कारण है जो मुझे इतना गुस्सा आ गया था।

इन सब घटनाओं में जो मेरे मन में विरोध का भाव उठा उसका आंशिक समर्थन अपने मन में पाते हुए भी मुझे कई बार ऐसा लगा है कि

---

१ पं० गोपीवल्लभजी उपाध्याय भूतपूर्व संपादक 'हिन्दी चित्र-मय जगत्' पूना।

ये मेरी तुनक-मिज़ाजी के ही नमूने हैं। कई बार इसे हम स्वाभिमान, आत्माभिमान मान लेने की भूल कर जाते हैं। स्वाभिमान तो स्वत्व-रक्षा का नाम है। अपने सद्‌गुणों—सात्विक गुणों—को अनुचित प्रहारों से बचाना, स्वाभिमान है। परन्तु साधारण बातों से छुई-मुई हो जाना, तिल का ताड़ समझ लेना या बना लेना तुनक-मिज़ाजी है। जिसे अहिंसा साधनी है उसे इससे पिण्ड छुड़ाना ही उचित है।

: १५ :

ईश्वर की कृपा

मैं जन्म-संस्कार से तथा परम्परा से कुछ ईश्वर-भक्त हूं। मेरा ईश्वर वह शक्ति है, जो सब कुछ जानती है, सब कुछ करती व कराती है। कई बार यह अनुभव हुआ है कि जब तक हमने अपने बल-बूते पर कोई काम करना चाहा है, तो बहुत प्रयास करने पर भी उससे कठिनाइयां, झंझटें व परेशानी ही ज्यादा हुई है; पर जब थककर परमात्मा पर छोड़ दिया है—अन्तस्तल से समर्पण की यह दीनता भरी आवाज उठी है—'अच्छा तो अब जो भगवान् की मर्जी हो वही होने दिया जाय—यदि उसे यह मंजूर है कि हमारी लाज जाय, बात बिगड़े, तो ऐसा ही हो' तो अक्सर वह काम बनता दीखा है, चिन्ता की जगह आशा की रेखा दीख पड़ी है। एक कल्पना करके भी उसे उसी समय ईश्वर-कृपा पर छोड़ दिया है तो बड़ी अकल्पित-रीति से वह सफल होती हुई देखी गई है। मेरे एक मित्र ने तो यहां तक कहा कि ईश्वर ने मेरी बाज-बाज अशुभ इच्छाओं को भी पूरा कर दिया है। यह अद्भुत अनुभव है। मैंने इसे समझने की कोशिश की है। प्रार्थना दरअसल हमारा दृढ़ व हार्दिक संकल्प है जो ईश्वर के प्रति सम्बोधित किया जाता है। दृढ़ व हार्दिक संकल्प अक्सर पूरे होते हुए देखे जाते हैं। हमारा चित्त, जो संकल्पों का जनक है, ब्रह्माण्ड या संसार में व्याप्त चैतन्य-शक्ति का ही एक अंश है। जब चित्त बहुत एकाग्रता से, सूक्ष्मता या शुद्धता से कोई संकल्प करता है तो वह शरीर की इस मर्यादा या आवरण को छेद करके ब्रह्माण्ड-व्यापी

चैतन्य-शक्ति को आन्दोलित या प्रभावित कर देता है और उसकी तरंगें न जाने कहां-कहां पहुंचकर अनुकूल प्रभाव पैदा करती हैं, जो अन्त में कार्य-सफलता या सिद्धि के रूप में हमारे सामने आ उपस्थित होती हैं। इनके सब सूक्ष्म कारणों या क्रिया-प्रतिक्रियाओं को हम साधारण दशा में प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, अतः हमारी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, किन्तु भावना कह उठती है कि यह ईश्वर की कृपा या अनुग्रह है। ईश्वर भी तो अज्ञात चैतन्य-शक्ति का ही दूसरा नाम है।

इस ईश्वर-कृपा का मुझे कई वार प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, जिसके कुछ नमूने यहां देता हूं—

१६१६ की बात है। मेरी पत्नी अपनी बीमार सास को छोड़कर चल बसी। पत्नी व मां की बीमारी में बचा-खुचा पैसा खर्च हो चुका था। घर का सब काम-काज रोटी-पानी, कपड़ा-बरतन सब हम—मर्द लोगों को खुद ही करना पड़ता था। एक रोज मां ने इत्तिला दी कि कल के लिए आटा नहीं है, न पास एक पैसा ही है। मैं जरा सोच में पड़ा। उधार न लेने का नियम कर रखा था। एकाएक खयाल आया—देखें, ईश्वर क्या करतब करता है? कोई घण्टा भी न बीता होगा कि नीचे से डाकिये ने आवाज दी—आपका मनीआर्डर है। मेरे आनन्द के साथ ही आश्चर्य का पारावार न रहा। एक ही क्षण में सैकड़ों तर्क आये कि आखिर मनीआर्डर आया कहां से। मेरा किसी से लेना नहीं निकलता था। किसी की ओर से इत्तिला भी नहीं थी कि मनीआर्डर भेज रहे हैं। 'सरस्वती' से भी अपना हिसाब चुकता कर आया था। इतने में डाकिये ने मनीआर्डर का फ़ार्म हाथ में दिया। मनीआर्डर ५) का था व 'इण्डियन प्रेस' इलाहाबाद से आया था। मैं समझ नहीं सका कि यह क्यों आया होगा? कूपन पर भी कुछ लिखा नहीं था। खैर ईश्वर-कृपा समझ कर रुपये ले लिये व मां को पुकार कर कहा—देखो ईश्वर कैसा दयालु है। दूसरे दिन पूज्य द्विवेदीजी का एक कार्ड मिला जिसमें लिखा था कि तुम्हारा एक पुराना लेख मेरे पास पड़ा था, उसे

'सरस्वती' में छपा दिया व पुरस्कार के ५) भिजवा रहा हूं।

एक बार १९२२-२३ में, जब मैं साबरमती-सत्याग्रहाश्रम में रहता था, मुझे इससे भी अधिक विस्मयजनक अनुभव हुआ। आश्रम के छात्रालय में मैं अपने मित्र श्री छगनलाल जोशी के नव आगन्तुक सहाध्यायी प्रो० भणसाली—अब सेवाग्राम के सन्त भणसाली-से मिलने गया। वहीं डाक से मेरे मामाजी की एक चिट्ठी मिली जिसे पढकर मैं चिन्तित व गम्भीर होगया। भणसालीभाई ने समझा कोई बुरी खबर आई है। पूछा-

'क्यों क्या मामला है? कोई अशुभ समाचार है क्या?'

'नहीं, मामूली समाचार है।'

लेकिन मेरे चेहरे पर गम्भीरता व चिन्ता झलकती ही रही। मामाजी ने १००) लौटती डाक से मंगाये थे। जिन्दगी में पहली बार मामाजी ने रुपये मुझसे मंगाये थे। मेरी हर कठिनाई पर वे हमेशा मेरी मदद करते रहते थे। उनके सन्तानहीन होने के कारण मैं उनके प्रति अपनी जिम्मेदारी अधिक महसूस करता रहा हूं। रुपया तो भेजना ही था; परन्तु पास में एक कौड़ी नहीं, उधार न लेने का नियम जारी ही था। मैं इसी सोच में पड़ गया था कि रुपये का इन्तजाम कैसे किया जाय। पत्नी के पास २००-२५०) के व मां के पास १००-५०) के गहने थे। सोच रहा था कि इन्हें बेचकर या गिरवी रखकर रुपये भेज दूंगा—इतने में फिर भणसाली भाई ने पूछा—

'तो फिर आप इतने गम्भीर क्यों हैं? आखिर कोई बात तो है।' छगनलाल जोशी ने जोर दिया-हां, बात क्या है? कहो तो। मैंने सहज भाव से पत्र का आशय उन्हें बता दिया। मेरा मन्थन तो मेरे मन में ही चल रहा था। इतने में अपरिचित भणसाली भाई-उसी समय उनसे परिचय हुआ था-उठे व अपनी जेब से १००) का एक नोट निकाल कर मेरे सामने रख दिया। मैं स्तम्भित रह गया। भगवान् तेरी कितनी दयालुता!! भणसाली भाई से बोला—

'नहीं, इसकी जरूरत नहीं; मैंने रुपये भेजने का रास्ता सोच लिया है।

आपकी यह सहज कृपा हमेशा याद रहेगी; यह नोट वापस ले लीजिए।'

'मुझे ईश्वर ने काफी पैसा दिया है। आपके लिए इतना करना मेरे लिए बहुत मामूली बात है। आप सङ्कोच न करें। मेरी भेंट आप स्वीकार न करें तो सुविधा से मुझे लौटा दीजिएगा। मैं आपकी हिचक को समझ सकता हूं।'

'नहीं, हिचक यह नहीं है, मैं तो इसमें परमात्मा की एक कृपा का ही अनुभव कर रहा हूं; पर ऐसी कठिनाई में नहीं हूं कि आपको कष्ट दूं।'

अन्त को भणसालीभाई व जोशीजी दोनों के प्रेमाग्रह के सामने मुझे झुकना ही पड़ा। इस घटना में भावी साधु व महान् त्यागी भणसाली के बीज अब मुझे दिखाई देते हैं।

अब एक सार्वजनिक जिम्मेदारी का उदाहरण लीजिए। १९२१ की बात है। राजस्थान को अपना जीवन समर्पण करके १९२६ में मैं अजमेर आ गया था। १९३० के सत्याग्रह के बाद—दिल्ली के गांधी-इरविन सन्धि-काल में—पुष्कर में प्रान्तीय कांग्रेस के अधिवेशन की जिम्मेदारी ले ली। कांग्रेस कमेटी पर एक-डेढ़ हजार का कर्ज हो गया था, परिषद् का काम चालू कर दिया गया था जिसमें रोज कुछ-न-कुछ खर्च होता ही था। अधिवेशन के मुश्किल से २०-२५ दिन रहे थे। स्वागत-समिति ने ६०००) एकत्र करने का जिम्मा मुझ पर डाला। मैं जरा दबे हृदय से ही घर से निकला लेकिन मन में कहा—यह भी भगवान् की कृपा को परखने का अवसर आया है। देखो, कैसे निभाता है।

पहले देहली चला। सोचा था कि ५००) मिल जायं तो बहुत—२५०) तक भी मिल जायं तो सन्तोष मान लेंगे। राम का नाम लेकर निकला तो एक मित्र ने अपने दफ्तर में आने वालों से वहीं बैठे-बैठे एक घण्टे में ७५०) करा दिये। मुझे इसमें भगवान् की सहायता का अनुभव होने लगा। वहां से ग्वालियर गया। यहां से ५००) की आशा रखी थी। मित्रों ने कहा, आपका स्वास्थ्य खराब होगया है, आप कहां

चन्दा करते फिरेंगे। हम ही बटोर कर आपको ला देंगे—आप एक-दो रोज आराम कीजिए। उन्होंने ८००) लाकर दे दिए। मैंने मन से तो ईश्वर को धन्यवाद दिया। पर चन्दा-भिक्षुक के रिवाज के माफिक कहा—एक हजार हो जाता तो अच्छा था। मित्रों ने बताया—आपको श्रम से बचाने के लिए खींच-तान कर यह रकम जुटाई है। मैं भार से दब गया। किसी को दबाकर भिक्षा लेना तो ठीक नहीं। मैंने मित्रों से कहा—'तो जितना दबाकर लाये हो उतना इसमें से लौटा लो; और दो घर ज्यादा भिक्षा मांग लूंगा। मैं ऐसी भिक्षा नहीं चाहता कि दाता के मन की सरसता सूख जाय। उसके दरवाजे पर जाऊं तो उसके चेहरे पर बेमुरव्वती आने लगे। मैं तो यह चाहता हूं कि आप लोग थोड़ी रकम भले ही दें—मेरा द्वार सदा खुला रखें।' 'जी, नहीं अब इसमें से तो नहीं लौटावेंगे हमारा मतलब यह था कि अब ज्यादा मांगेंगे तो लोगों पर जोर पड़ेगा।'

इस तरह बहुत थोड़े श्रम में रकम इकट्ठी हो गई। धन सम्बन्धी ही नहीं, अन्य अनेक कठिन अवसरों पर ईश्वर-कृपा का अनुभव हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि जो मनुष्य दूसरे के सुख-दुःख का अधिक ख्याल रखता है, उसे ऐसी ईश्वर-कृपा का अनुभव अवश्य होता है। सम्भवतः दूसरों के आशीर्वाद या शुभ कामना ईश्वर की मंगलता व दयालुता को जगा दिया करते हैं।

: १६ :

ईश्वर-विश्वास

ईश्वर-कृपा के ऐसे अनेक अनुभवों से मेरी ईश्वर-श्रद्धा दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। इससे मन में एक किस्म की अजीब निश्चिन्तता, निर्भयता, शान्ति व मस्ती-सी रहती है। घटनाओं के क्षणिक प्रभावों से चित्त चंचल तो हो उठता है; झल्लाहट आ जाती है, पर भगवान् का स्मरण होते ही मन स्थिरता व शान्ति का अनुभव करने लगता है।

निर्भयता अहिंसा का पहला लक्षण है। मुझे नहीं याद पड़ता कि मैंने कभी कोई काम किसी के दबाव से किया हो। मुझे दबाव का झूठा वहम भी होजाय तो मेरा दिल बगावत करने लगता है। हां, लिहाज मुलाहिजे में या दया खाकर ऐसे काम जरूर कर दिये हैं जिनके लिए कभी-कभी पछतावा हुआ है। जो दुःखी मनुष्य मेरे पास आता है, उसके कुछ-न-कुछ उपयोग में आने की मेरी इच्छा रहती है। उस समय ऐसा लगता है मानो इसे निराश लौटाना दया-धर्म व सौजन्य के खिलाफ है। कोई ढोंगी ठगकर ले जाय तो मुझे इतना अफसोस नहीं होता जितना इस खयाल से कि कोई वास्तविक दुखी सहायता से वंचित रह जाय। कोई मुझे ठग ले जाता है, या धोखा दे जाता है तो दर असल वह अपनी ही अधिक हानि करता है। मेरे पास खाने जैसी चीज है ही क्या? दूसरे मित्रों से कुछ पैसे दिला दिया करता हूं, या सिफारिश कर दिया करता हूं। यह मार्ग बन्द हो सकता है। जिन मित्रों को यह लगा या लगता रहता है कि हरिभाऊ सीधा है वह मेरी सिफारिशों की ज्यादा कीमत

आंकेंगे। कोई भी गुण हो, उचित सीमा के बाहर जाने से वह अवगुण होजाता है। प्रत्येक वस्तु अपनी मर्यादा में ही उपयोगी होती है। मेरी यह सिधाई, अति-विश्वासशीलता, भलमनसाहत या 'मूर्खता' या तो विवेक की कमी का परिणाम है, या निश्चय की दृढ़ता का अभाव है, जो सत्य की साधना की कमी का दूसरा नाम है। वस्तु की यथार्थ सीमाओं को जान लेना विवेक है व विवेक के निर्णयों का दृढ़ता से पालन करना सत्याग्रह है। इसमें दूसरों पर अन्याय, ज्यादती, बलात्कार न होने देने की भावना अहिंसा कहलाती है। एक मित्र अक्सर कहते हैं तुममें अहिंसा की अधिकता व सत्य की कमी है। मुझे उनकी यह राय सच मालूम होती है। लेकिन अपने दिल को इस तरह समझा लेता हूं कि यदि अहिंसा भी सचमुच में है तो वह सत्य की साधना में भी मजबूती ला देगी। मुझे अहिंसा तो सहेली जैसी मालूम होती है; पर सत्य विकट लगता है। उसके समूचे स्वरूप का जब प्रकाश मन पर पड़ता है तो हृदय खिल तो उठता है; पर उस तेज से हृदय दहलने भी लगता है। मन, विचार, वाणी, कर्म में कहीं भी गलती न होने देना—सत्य का असली रूप है। इसके लिए मन के संकल्प, मनोरथ ही नहीं, स्वप्न तक में जागरूक रहने की जरूरत है। प्रत्येक तफसील पर ध्यान देना व देते रहना होगा। मन को सदा चौकन्ना, बुद्धि को स्थिर, निष्पक्ष, निर्मल, व जीवन को सतत क्रियाशील, उद्योगशील रखना होगा। यह तो महान् योगी या वैज्ञानिक या रासायनिक का काम है। जरा चूके, थके, सोये, घबराये, झल्लाये, मोहित हुए कि गये।

इस निर्भयता का मूल ईश्वर-श्रद्धा में है। जब मैं छाती पर हाथ धर कर यह देख लेता हूं कि मेरी भावना शुद्ध है, काम भला है, तो मेरे मन में यह विचार ही नहीं आता कि लोग क्या कहेंगे, इसमें लोगों के लिए कुछ शंका करने जैसी बात भी हो सकती है। हां, कुछ कटु अनुभवों ने अधिक सावधान तो बना दिया है, फिर भी लोगों की आलोचनाओं व निंदाओं के बीच अविचल रहने की प्रवृत्ति कायम ही है।

क्षणिक प्रभाव हुआ भी तो वह परमात्मा का आश्रय लेते ही नष्ट हो जाता है।

अजमेर आने से पहले भी मेरा जीवन था तो सेवा-प्रधान ही; परन्तु एक तरह से व्यक्तिगत था। साथियों, कार्यकर्ताओं या जन-सम्पर्क की गुंजाइश उसमें बहुत कम थी। ज्यादातर 'टेबुल-वर्क' था। अजमेर आने के बाद यह स्थिति बदल गई। मेरा आदर्श व सिद्धान्त-पक्ष तो बलिष्ठ था, भावना-पक्ष भी ठीक था, किन्तु व्यापक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव कम था। उत्साह तो था ही। बाबाजी[1] के प्रेमाग्रह से कांग्रेस-कार्य में पड़ गया। प्रांतीय-कांग्रेस के चुनाव-संग्राम से ही इस जीवन में प्रवेश हुआ। वैसे जब मैंने पूज्य बापू का आशीर्वाद लेकर राजस्थान में आने का विचार किया तो प्रायः सभी मित्रों ने चेतावनियां दी थीं। वहां के नेताओं की लड़ाइयों का हवाला दे-देकर मुझे उस कीचड़ में न फंसने पर जोर दिया। एक जमनालालजी ही ऐसे थे जिन्होंने राजस्थान में जाने पर तो जोर दिया; पर राजनैतिक क्षेत्र में न पड़ने की भी सलाह दी थी। किंतु मेरा स्वभाव कुछ हठीला है। जब कोई मुझे कठिनाई, झंझट, भय, आशंका दिखाकर किसी काम से हटाना चाहता है तो मेरा जी उलटा उस काम को करने पर और उतारू हो जाता है। कहता हूं—देखूं तो आखिर यह भय-संकट या झंझट है क्या? चलो, एक नया अनुभव ही होगा। अतः मैंने अजमेर जाने का निश्चय और भी दृढ़ कर लिया। परन्तु मन में सोचा कि दुनिया में तीन बातों के लिए कलह मचते हैं—नेतापन, धन-संग्रह व स्त्री-सौन्दर्य। अपन इन मोहों से दूर रहने का पूरा प्रयत्न करेंगे।

अजमेर आते ही इन परीक्षाओं की तैयारी शुरू हो गई। राजस्थान के प्रख्यात पं० अर्जुनलालजी सेठी से चुनाव का मुकाबला घोषित होते ही तरह-तरह की धमकियां आनी शुरू हो गईं। 'खून की नदियां बहेंगी,

---

१ भाई नृसिंहदासजी अग्रवाल

यह वाक्य तो बाज-बाज के मुंह से सदा ऐसा निकलता रहता था जैसे पान-तमाकू खाने वाले के मुंह से थूक की पिचकारी। मुझे यह बड़ा अजीब तो लगता, पर त्यों-त्यों मैं चुनाव लड़ने में अधिक दृढ़ बनता गया। सामने वालों को जवाब दिलवा दिया करता—अंग्रेजों के हाथों मरने से अपने देशी भाइयों के हाथों मरना क्या बुरा है?

  

एक बार एक चुनाव के सिलसिले में विरोधी पक्ष की तरफ से भयावह प्रदर्शन हुआ व वे लोग मीटिंग वाले मकान का दरवाजा तोड़कर भीतर घुस आये व आंगन में जम गये। कमेटी के एक सदस्य-मित्र ने कहा—हरिभाऊजी, समझौता कर लीजिए, नहीं तो आज यहां तमंचे चलेंगे। मैंने कमेटी में ही तुरन्त जवाब दिया—प्रदर्शनकारी मित्र सब सुन रहे थे—"मैं समझौते-वाला के नाम से, शान्ति-प्रिय के नाम से बदनाम हूं। लेकिन हमारे सामने वाले मित्र यदि तमंचे के बलपर समझौता चाहते हैं तो अच्छी बात है, पहले वे तमंचे चला लें, बाद में बचे-खुचे आदमी समझौता कर लेंगे।"

  

एक बार एक मित्र ने आकर मुझे सूचना दी—फलां साहब, कुछ साथियों को लेकर आश्रम—गांधी आश्रम, हटूंडी—पर हमला करने की सोच रहे हैं, आप होशियार रहिए। मैंने उन्हें कहला दिया कि उनसे कह दीजिए कि हरिभाऊ आश्रम की रक्षा करना जानता है। उसके जीते जी आश्रम पर कब्जा नहीं हो सकेगा। उस समय इत्तिफाक से ६-७ साथी कार्य-कर्त्ताओं की स्त्रियां भी वहां मौजूद थीं। मैंने सबको बुलाया और यह इत्तला सुनाई व पूछा—बोलो, हमारा क्या कर्त्तव्य है? आश्रम का कब्जा दे दें, पुलिस को मदद के लिए बुलावें, या आश्रम की रक्षा के लिए खुद मर मिटें। सबने एक स्वर से कहा—दासाहब, आप हमें निर्भय रहने व अत्याचारी का मुकाबला करने की शिक्षा देते रहते हैं। यों ही कब्जा दे देना व पुलिस को बुलाना तो कायरता है। आप उन्हें आने दीजिए, हम

सब बहनें एक कतार से खड़ी हो जायंगी व हमारी हड्डियां टूटने पर ही कोई आश्रम की ईंट को हाथ लगा सकेगा।'

अबला कही जाने वाली स्त्री-जाति की इन बहनों के उत्तर से मुझमें हजार हाथी का बल आ गया था। बहनों की इन बहादुराना बातों को व उनको मैं इस जीवन में नहीं भूल सकता।

  

एक दफा एक मित्र ने आकर कहा—फलां साहब आपको मारने की फिक्र में है। उनका दांव लगा नहीं व आपको उन्होंने पिटवाया नहीं। अतः आप होशियार रहिए। अकेले उस तरफ न जाइए। हाथ में एक डण्डा भी रखिए।

'अच्छा, यदि ऐसा है तो आप मुझे उल्टी सलाह दे रहे हैं। अब तो मुझे उधर होकर जरूर जाना है। यों इत्तफाक से किसी का साथ हो जाता होगा तो भी उधर मैं अकेला ही जाता-आता रहूंगा।'

'मैंने आपके हित-चिन्तक के नाते आपको सावधान कर दिया, सावधान रहने में क्या बुराई है?'

'बुराई यों कुछ नहीं, पर मन में भय का संचार होता है। मैं डर को अपने पर हावी होने देना नहीं चाहता।'

  

एक बार बंबई में, जिस साल महात्माजी कांग्रेस से अलग हुए, कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर, मेरी धर्म-पत्नी ने मुझे सूचित किया कि आज फलां सज्जन ने तुम्हें मार डालने व कांग्रेस-दफ्तर पर कब्जा कर लेने की तजवीज बनाई है। भाई राधाकृष्णजी बजाज वर्धा ने सुझाया, बापू को इत्तिला कर दें, जिससे सम्भव है, कोई अनहोनी बात न होने पावे। मैंने कहा—मैं बापू को इसके लिए कष्ट देना नहीं चाहता, यह तो खतरे से बचने का उपाय है। जो होना होगा, हो जायगा।'

'लेकिन मैंने तो इसी शर्त पर भागीरथी को समझाया व शांत किया है।'

'तो आप बापू से जो चाहें कहें, मैं तो नहीं कहना चाहता, खुद ही इस परिस्थिति से निबट लूंगा।'

रात के १०॥ बज चुके थे। बापू की सलाह राधाकृष्णजी ने मुझे बताई—'हरिभाऊ से कहो कि दफ्तर के कागजात बंबई (शहर) ले जाय, यहां कैंप में न रखे व खुद भी आज बंबई ही किसी मित्र के यहां जा सोवे।'

मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। बापू ने यह भाग जाने की सलाह कैसे दी? मैंने राधाकृष्णजी से कहा—बापू की यह सलाह मेरी समझ में न आई; अब तो इसकी सफाई के लिए मुझे बापू से मिलना ही पड़ेगा।

११ बज गये थे, बापू सोने की तैयारी में थे, चादर बदन पर डाल ही रहे थे कि हम दोनों पहुंचे। मैंने कहा—बापूजी आपने यह उल्टी सलाह कैसे दी?

'राधाकृष्ण की बातों से मुझ पर ऐसा असर पड़ा कि इस परिस्थिति से तुम भयभीत हो गये हो, अतः मैंने तुम्हें भयभीत का धर्म बताया। भयभीत का धर्म है प्राण बचाना।'

'नहीं, मैं तो भयभीत नहीं हुआ, कांग्रेस के कागजात सुरक्षित रखना तो मेरा कर्त्तव्य ही है; परन्तु मेरा बंबई चला जाना तो बिलकुल कायरता है। मुझे तो यह जंचता नहीं।'

बापू ने मेरे मुंह की ओर देखा, बोले—

'तो फिर आज रात को तुम उन्हीं के कैंप में, बल्कि उन्हीं के पास जाकर क्यों नहीं सोते?'

मैं समझ गया, बापू मेरी हिम्मत की थाह ले रहे हैं; मैं यों ही बन रहा हूं, या कुछ दम है। मैंने हर्ष से उत्तर दिया—

'हां, बापूजी आपकी यह सलाह मुझे जंची। अभी जाता हूं और यही करता हूं।'

'तो फिर जाकर ऐसा ही करो।'

वे भाई अपने कैंप में सो रहे थे। मैंने जाकर जगाया तो चौंकते हुए उठे। पूछा—'क्या बात है ?'

'उठो, आपसे कुछ बात करना है ?' मैंने भागीरथी का सुनाया किस्सा कहा। बापूजी की सलाह सुनाकर कहा कि मैं इसलिए आया हूं कि आपको मेरे कैंप तक जाने का कष्ट न उठाना पड़े, आप जो कुछ चाहें कर लीजिए। तो बोले—

'उसने कुछ अण्ट-शण्ट कह दिया है। तुम्हें मारकर मैं शहीद बनाना नहीं चाहता। इतने में राधाकृष्णजी व भागीरथी भी वहां आ पहुंचे। दूसरे दिन जब बापूजी को यह समाचार मिला तो वे प्रसन्न हुए।

  

१९३० के सत्याग्रह की बात है। रामसर (नसीराबाद) में नमक बनाने का कार्यक्रम था। कार्यक्रम को विफल बनाने के लिए पुलिस व तहसील के अफसरों का डेरा वहां लग गया। वे खुद तो दूर रहे, पर गांव वालों को भड़काकर स्वयं-सेवकों पर हमला करने के लिए भेजा। ३-४ स्वयं-सेवक नमक बना रहे थे, शेष सब घेरा बनाकर उनकी रक्षा कर रहे थे। मैं कुछ दूरी पर खड़ा था। गांव के कुछ लोग लाठियां बांधे तेजी से स्वयं-सेवकों की ओर लपके आ रहे थे। वे स्वयं-सेवकों तक पहुंचने ही वाले थे कि लपककर मैं उनके सामने जा पहुंचा व तनकर बोला—

'आप लोग क्या करना चाहते हैं ?'

'आप लोग यहां नमक न बनाइए—हमारी जमीन में आपको नमक बनाने का क्या हक है ?'

'जमीन पंचायती है, तुम पंचायत से लिखाकर ले आओ—हम चले जायंगे। हमारी लड़ाई आप लोगों से नहीं है, ब्रिटिश सरकार से है।'

इतने में प्लेन ड्रेस में एक पुलिस वाले ने एक को उकसाया—'हां, लगाओ।' मैंने देखा और घुड़क कर कहा—'पुलिस ने क्यों चूड़ियां पहन रखी हैं ? खुद ही वर्दी पहनकर डण्डे क्यों नहीं चलाते ? हम

तो सिर फुड़वाने के लिए तैयार बैठे हैं। बेचारे गरीब अपढ़ गांव वालों को बहकाकर हमसे भिड़ा रहे हो ?'

एक गांव वाला—'देखिए, आप लोग यहां खून-खराबी करावेंगे, और हमको बरबाद करेंगे।'

'लाठियां तो तुम्हारे पास हैं, सिर फोड़ने आप लोग आये हैं, हम किसी के पास तो एक बैंत तक नहीं है, सब निहत्थे हैं, फिर खून-खराबी तुम कराना चाहते हो या हम ? हम तो उलटे तुम लोगों के सुख व आराम के लिए अंग्रेजी सल्तनत से लड़ रहे हैं और अपने सिर खून से रंगवाने के लिए तैयार हुए हैं।'

इन वचनों का उस पर ऐसा असर हुआ कि उसने अपने हाथ की लाठी पीछे फेंक दी और कहा—'लो, अब तो हम जिम्मेदार नहीं।'

इतने ही में स्वयं-सेवकों ने घेरा तोड़ दिया। आवाज आई—'नमक कानून तोड़ दिया।'

× × × ×

१९३० का स्वतन्त्रता-दिवस अजमेर में मनाना था। बाबाजी नगर कांग्रेस के व मैं प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का प्रधान मन्त्री था। सफलता-पूर्वक उत्सव मनाने की जिम्मेदारी प्रधानतः हम दोनों पर ही थी। चुनाव में हमारे विरोधी दल को मुसलमानों का पूरा समर्थन व बल प्राप्त था। अन्त को जब कमेटी हमारी बनी तो स्वतन्त्रता-दिवस को मनाने में कठिनाइयां पैदा की जाने लगीं। खबरें आने लगीं कि यदि अजमेर में उत्सव मनाया गया तो हिन्दू-मुस्लिम दङ्गा हो जायगा। हम लोगों ने दृढ़ता से तैयारियां जारी रखीं। कुछ तो आये दिन की धमकियों के हम लोग आदी ही होगए थे; व कुछ तजरुबा भी कर लेना चाहते थे; कर्त्तव्य का तकाजा तो था ही। २६ जनवरी को सुबह से ही तरह-तरह की अफवाहें आने लगीं। एक तरफ से जुलूस न निकालने की, व दूसरी तरफ से जरूर निकालने की सलाहें मिलने लगीं। यह निश्चित खबर आई कि जुलूस जहां दरगाह बाजार में पहुंचा नहीं कि इन्दरकोट वालों

की तरफ से कुछ वखेड़ा जरूर पैदा होगा। पुलिस व मैजिस्ट्रेट उस स्थान पर लैस खड़े थे। उधर से पत्थर या लाठी चली नहीं, और इधर फायर का आर्डर हुआ नहीं। हमारी तरफ से इस बात का पूरा प्रवन्ध किया गया था कि किसी भी तरह से हिंसा या प्रतिहिंसा न होने दी जाय।

जुलूस के चार्ज में वैसे एक दूसरे सज्जन थे। जब जुलूस दरगाह बाजार पहुंचा तो उन्होंने मुझे सुझाया 'उपाध्यायजी' आप जुलूस के अगले हिस्से को संभालिए मैं पिछले हिस्से को देखूंगा।' चुनांचे मैं फौरन आगे लपका। इन्दरकोट की तरफ से जो रास्ता दरगाह शरीफ के पास आकर मिलता है, वहां मुसलमानों का बड़ा ठट्ठ जमा हुआ था। उसी तरफ से खुराफात होने का अन्देशा था। पं० जियालालजी भी जुलूस में थे। हम दोनों बाहें फैलाकर इन्दरकोट के रास्ते को रोक कर खड़े हो गए व जुलूस गुजरने लगा। मेरा दिल तो धड़कने लगा था कि अब पत्थर बरसे, लाठियां चलीं, व गोलाबारी हुई। परन्तु जब मैं कोई बात ठान लेता हूं तो किसी भी संकट या खतरे की परवाह नहीं करता। जुलूस अच्छी तरह निकल गया, तब हम दोनों ने उस रास्ते को छोड़ा। उस दिन पं० जियालालजी की बहादुरी व निर्भयता का मुझे प्रथम परिचय हुआ। अंत को दंगे की अफवाह कोरी धमकी ही साबित हुई।

: १७ :

'मालव-मयूर' व 'नवजीवन'

अहिंसावादी पक्की लगन व धुन का होता है। इसके अभाव में न तो उसकी अहिंसा की परीक्षा ही हो सकती है, न प्रगति ही। जो व्यक्ति कामों व निश्चयों को बीच-बीच में छोड़ देता है, वह अहिंसा की साधना में कैसे सफल हो सकता है? अहिंसा का अर्थ है सामने वाले के हृदय को जीत लेना। उसकी भावनाओं में परिवर्तन ला देना। उसके बुरे भावों को अच्छे भावों में बदल देना। यह काम बिना धुन, लगन व दृढ़ निश्चय के नहीं हो सकता।

जब मैं 'सरस्वती' छोड़कर इन्दौर रहने गया तो यह निश्चय करके गया कि वहां से कोई पत्र-पत्रिका निकालेंगे। १९१८ में गांधीजी के सभापतित्व में जो अपूर्व सफलता हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को मिली थी उससे मैंने यह मान लिया था कि इन्दौर में रहकर साहित्य-सेवा का काम बड़े मजे में किया जा सकता है। यह क्षेत्र तैयार है, और मध्य भारत हिंदी-साहित्य-समिति के द्वारा अपना काम शुरू करने का मैंने विचार किया। उस समय स्व० डाक्टर सरयूप्रसादजी समिति के कर्त्ता-धर्त्ता थे। समिति के द्वारा साहित्य-सेवा और साहित्य-प्रचार की योजना भी मैंने पेश की थी। परन्तु मेरा और डाक्टर साहब का दृष्टि-बिन्दु टकराता था। वे बुजुर्ग थे। समिति के तो प्राण ही थे। मुझे भी बहुत चाहते थे। परन्तु मेरा दृष्टि-बिन्दु राष्ट्रीय था जब कि उनके लिए वहां के तत्कालीन दबे हुए वातावरण से ऊपर उठना असंभव था। वे खुद

एक बड़े सरकारी पद पर थे, समिति के संरक्षकों व सहायकों में भी ऐसे ही धनी-मानी, राजा-रईस लोग थे, जिनसे राष्ट्रीयता सौ-सौ कोस दूर भागती थी। मैं समिति को मालवा की जागृति का केन्द्र बनाना चाहता था। थोड़े में ही मैंने देख लिया कि समिति के द्वारा यह यत्न व्यर्थ है। तब मैंने स्वतन्त्र रूप से 'मालव-मयूर' नामक एक मासिक पत्र निकालने का आयोजन किया। इधर भाई जीतमलजी लूणिया ने और मैंने मिलकर 'मध्य-भारत-हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी' नामक एक संस्था कायम की, जिसके द्वारा साहित्य-निर्माण और साहित्य-प्रचार दोनों का बीड़ा उठाया।

इस समय की एक दो हृदय-स्पर्शी घटनाएं मुझे याद आ रही हैं। जिन्होंने हम दोनों को सदा के लिए परस्पर स्नेह-पाश में बांध लिया। पुस्तक एजेन्सी में जीतमलजी रुपये लगाने वाले थे और मेरे द्वारा कुछ रुपये की पुस्तकें क्रेडिट पर मंगाना और कुछ रुपया नकद देना तय हुआ था। जीतमलजी तो व्यावहारिक आदमी हैं। मैं था हवा में उड़ने वाला। उन्होंने तजवीज रखी कि एजेन्सी के सिलसिले में आपकी हमारी लिखा-पढ़ी हो जाय। व्यवहार-दृष्टि से उसका सुझाव बहुत उचित था; परन्तु मुझे खटका। मैंने कहा, 'इसका अर्थ तो यह हुआ कि आगे-पीछे हम दो में से कोई एक बेईमानी करने वाला है। मैं तो यह चाहता हूं कि आपका हमारा इतना साफ-सुथरा सम्बन्ध रहे कि हम तो ठीक, हमारी अगली पीढ़ी में भी कोई खराबी और अविश्वास पैदा न हो। मुझे आपसे कोई लिखा-पढ़ी नहीं करानी है। क्योंकि मुझे विश्वास है कि आप बेईमान नहीं हैं और अगर आपने बेईमानी की भी तो मैं उसकी शिकायत कभी नहीं करूंगा। फिर भी आपको यह जरूरी लगता हो तो आप मजमून बनाकर ले आइए, मैं दस्तखत कर दूंगा।' मुझे जहां तक याद, है, हमारी उनकी कोई लिखा-पढ़ी नहीं हुई और हमारा प्रेम-सम्बन्ध अब तक ज्यों-का-त्यों कायम है और मुझे विश्वास है कि कम-से-कम एक पीढ़ी आगे तक दोनों परिवारों में ऐसा ही सम्बन्ध

बना रहेगा। मेरी अब भी यही राय है कि मनुष्य को लिखा-पढ़ी की बनिस्बत अपनी दी हुई ज़बान का ज्यादा मूल्य समझना चाहिए। हृदय की सचाई एक ईश्वरीय बल और तेज है जब कि क़ागज़ी लिखा-पढ़ी दुकानदारी है।

अपनी पारिवारिक कठिनाइयों के कारण मैं अपने हिस्से का रुपया समय पर न दे सका। बिना अधिक रुपया लगाये एजेन्सी का काम बढ़ नहीं सकता था। साझे की वस्तु होने से और मेरे पास रुपये न होने से जीतमलजी को अधिक रुपया लगाने में पशोपेश होता था। इस उलझन को भांपकर मैंने जीतमलजी से प्रस्ताव किया, 'एजेन्सी के मालिक आप बन जाइए, मेरा साझा उसमें से निकाल दीजिए और जो किताबें मेरी 'क्रेडिट' पर आई हैं उनकी पूंजी को एक मित्र की दूसरे मित्र को भेंट या सहायता समझ लीजिए। मैं एजेन्सी से कोई लाभ उठाना नहीं चाहता।' जीतमलजी मालिक तो होगए; पर मुझे याद आता है कि साल के अन्त में उन्होंने मुनाफे की कुछ रक़म मुझे दी थी। उनके सौजन्य का मुझ पर असर हुआ।

एक बार मुझे कोई ५००) रुपयों की ज़रूरत पड़ गई। मुझे कुछ चिन्तित देख जीतमलजी ने खुद ही कहा, 'इस समय मेरे पास नकद रुपया तो नहीं है, जेवर है, आपको दिये देता हूं; आप रहन रखकर रुपया ले लीजिए। इसमें किसी प्रकार संकोच न करें।' उनकी इस प्रकृत सहानुभूति से मेरा हृदय भर आया। मैंने कहा, 'नहीं, ऐसी कुछ कठिनाई नहीं है जिसके लिए जेवर पर निगाह डालनी पड़े। मेरे लिए तो आपकी यह भावना ही बहुत है—बहुमूल्य है। सदा यह ऐसी ही बनी रहे, इससे अधिक मुझे कुछ नहीं चाहिए।' भावना ही असल चीज है उसका प्रकटीकरण तो दुनियादारी की चीज़ है। दुनिया के सम्बन्ध उसके व्यावहारिक रूप पर चलते हैं, और उसके अभाव में लोगों को भावनाएं बेमानी मालूम होती है। मैंने अपने लिए यह व्यवहार-नियम बना रखा है—दूसरे के प्रति अपनी भावनाओं को सदैव क्रियात्मक रूप देते

रहना चाहिए; अपने प्रति केवल उनकी सद्भावनाओं पर ही तृप्ति अनुभव करनी चाहिए। मुझे इसके अमल से जो संतोष व समाधान प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है।

'मालव-मयूर' के पहले अंक का मसाला लेकर छपाने के लिए मैं बनारस गया कि इधर इन्दौर के तत्कालीन चीफ-मिनिस्टर ने आर्डर भेजा कि बिना पहले से इजाजत लिये 'मालव-मयूर' इन्दौर से प्रकाशित न किया जाय। इन्दौर में तब कोई ऐसा कानून नहीं था जिससे पहले मंजूरी लेना लाजिमी हो। मैंने तुरन्त इजाजत के लिए दरख्वास्त दे दी। मैं जानता था कि वह तो कभी नहीं मिलने वाली है।

देशी-राज्य से निराश होकर मैंने खण्डवा से एक साप्ताहिक पत्र निकालने का और मालवा के देशी राज्यों में जागृति पैदा करने का निश्चय किया। मेरे अभिन्न-हृदय मित्र श्री बैजनाथ महोदय तब इन्दौर में बी० ए० में पढ़ रहे थे। उन्होंने भी सहयोग का वचन दिया। सौभाग्य से इन्हीं दिनों महात्माजी ने अंग्रेज़ी में 'यंग इण्डिया' व गुजराती में 'नवजीवन' निकालना शुरू किया था। मुझे सूझा कि एक ऐसा साप्ताहिक खण्डवा से निकाला जाय जिसमें लेख टिप्पणी तो 'यंग इण्डिया' व 'नवजीवन' के लिये जायं व समाचार, संवादपत्र आदि हम लोग स्वतंत्र रूप से ले लिया करें; जिससे महात्माजी के पत्रों का अनुवाद—उनके दिव्य-सन्देश भी लोगों को मिल जाया करें व मालवा में जागृति करने का अपना उद्देश्य भी सफल हो।

खण्डवा से यदि पत्र निकालना हो तो, मैंने सोचा किसी धनी-मानी का सहारा आवश्यक है। उन दिनों मध्यप्रदेश में श्री जमनालालजी बजाज का नाम बहुत चमक रहा था। वे महात्माजी के भक्तों में गिने जाने लगे थे और कांग्रेस के उगते हुए सितारे थे। मैंने आचार्य द्विवेदी-जी से जमनालालजी के नाम परिचय-पत्र मांगा, उन्होंने अपेक्षा से भी अधिक अच्छा पत्र लिखकर भेज दिया। इन्हीं दिनों श्री चांदकरणजी शारदा, तिलक-स्वराज कोष एकत्र करने अजमेर से इन्दौर आये थे।

उन्होंने भी एक अच्छा परिचय-पत्र जमनालालजी के नाम दिया।

मैंने परमात्मा का नाम लेकर महात्माजी को पत्र लिखा। उन दिनों वे 'प्रिन्स आफ वेल्स' के स्वागत-बहिष्कार के सिलसिले में बम्बई ठहरे हुए थे और ए० आई० सी० सी० (महासमिति) की मीटिंग शीघ्र ही वहां होने वाली थी। मैंने उन्हें अपनी सारी योजना पत्र में लिख दी थी, इस कार्य-सम्बन्धी अपनी पात्रता की भी कुछ कल्पना दे दी थी व जमनालालजी के नाम मिले परिचय-पत्रों की नकल भी साथ भेज दी थी। तुरन्त उनका जवाब मिला—'यदि साबरमती या वर्धा से पत्र निकालना चाहते हो तो श्री जमनालालजी से लिखा-पढ़ी करो। उनसे मेरी बातचीत हो गई है।' मैं तो उछल पड़ा। रोटी मांगी और अमृत मिला। न जाने कितने जन्मों का, किन-किन पूर्वजों का यह पुण्य उदय हुआ जो साबरमती में पूज्य बापू के पास रहकर पत्र निकालने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने वैजनाथजी से सलाह की व तुरन्त बम्बई रवाना हो गया। पत्र-व्यवहार की बनिस्बत मैंने खुद ही जमनालालजी से मिल लेना पसन्द किया। पूज्य महात्माजी के दर्शन व चरणस्पर्श के इस सुअवसर को खोना अब मेरे लिए सम्भव नहीं रहा था।

मेरी इसी मुलाकात में 'हिन्दी नवजीवन' की नींव पड़ी व बाद में, मेरे साबरमती रहते हुए ही, 'मालव-मयूर' भी काशी से निकला।

अहिंसा का अर्थ है दूसरे की भावनाओं, दुख-दर्दों का खयाल रखना, अपने स्वार्थ व सुख के लिए दूसरों को कष्ट व असुविधा में न डालना। इन्दौर में जब पुस्तक एजेंसी से मेरा साझा टूट गया तब कुछ समय के लिए मैंने वहां के हिंदी फाइनल स्कूल में असिस्टेंट हेडमास्टर की जगह मंजूर कर ली थी। उस जगह पर हक तो एक दूसरे अध्यापक का था, परन्तु मेरी नियुक्ति ऊपर से हो जाने के कारण उनका हक मारा गया। साहित्यिक क्षेत्र में मेरा नाम तो था ही, अतः हेडमास्टर को भी चिन्ता हुई कि कहीं जल्दी ही यह मेरा पद न छीन ले। मुझे गन्ध लगते ही मैंने दोनों मित्रों को निश्चिन्त कर देने का निश्चय किया। मैंने महसूस

किया कि वास्तव में मेरे एकाएक ऊपर आजाने से उन अध्यापक की हकतलफी हुई है व हेडमास्टर साहब को भी अन्देशा होना स्वाभाविक है। मैंने उन अध्यापक भाई को बताया कि किन मजबूरियों से मैं यहां आया हूं और सो भी चन्द रोज के लिए। मुझसे उन्हें हर तरह सहायता ही मिलेगी। उनका ऊपरी होते हुए भी मैंने सदा उनके साथ आदर का व्यवहार किया व अपने को उनके प्रति नम्र अनुभव किया। हेडमास्टर साहब की तो इतनी तरह-तरह से मैंने सहायता की कि वे मेरे आत्मीय मित्र के रूप में मुझे मिल गए व जब तक जिन्दा रहे मेरा 'गार्डियन' अपने को मानते रहे। उनके मरने का मुझे भी इतना सदमा रहा कि कई दिनों तक इन्दौर जाने का मन ही न हुआ। जब कभी उन दिनों का खयाल होता है तो अपने इस व्यवहार का मुझे सन्तोष ही होता है और इसे मैंने अपनी अहिंसा-वृत्ति का ही एक चिह्न या प्रदर्शन समझा है। इसके मीठे फल का अनुभव तो मैंने इन दोनों मित्रों के स्नेहमय व्यवहार में सदा ही किया।

: १८ :

परीक्षा

बंबई की यह पहली यात्रा थी। बुखार आने लग गया था सो कुनैन का इन्जैक्शन लेकर रवाना हुआ। मणि-भवन में पहुंचा तो देवदास-भाई मिले। उन्होंने कहा—'आपका खत खुद बापूजी ने पढ़ा है। उत्तर हिंदुस्तान वालों की लिखावट बड़ी खराब होती है। बापूजी से पढ़ी नहीं जाती। लेकिन आपका खत बड़ा अच्छा था, बापू पर अच्छा असर पड़ा है।' जमनलालजी भी वहीं थे। बापू से थोड़ी-बहुत बातचीत हुई व उन्होंने मुझे जमनालालजी के हवाले कर दिया। मैंने वर्धा की बजाय साबरमती में रहकर पत्र निकालना मंजूर किया। जमनलालजी का झुकाव यों वर्धा की तरफ था; परन्तु 'यंग-इण्डिया' व 'नवजीवन' के साथ ही 'हिंदी-नवजीवन' का अहमदाबाद से निकालना ही उन्हें सुविधाजनक प्रतीत हुआ।

जमनालालजी आदमियों के बड़े कड़े परीक्षक थे। मैंने परिचय-पत्र उन्हें दे दिये। वैसे तो उन्हें मेरे रङ्ग-ढङ्ग से संतोष हुआ; परन्तु अभी मेरी जांच-पड़ताल बाकी थी। मैं ठहरा छुई-मुई तबियत का, वे थे भयङ्कर स्पष्टवक्ता व कड़ाई-पसन्द। सवालों की झड़ी लगा दी—घर में कितने प्राणी हैं? खर्च कितना है? कहां-कहां काम किया है? वहां से काम छोड़ा क्यों? स्वास्थ्य खराब क्यों रहता है? कब से रहता है? इतना खोद-खोदकर पूछने लगे कि मैं मन में झुंझलाया—महात्माजी ने किस जल्लाद आदमी से मुझे भिड़ा दिया है। मालूम होता है, इन्हें मेरी बातों

पर भरोसा ही नहीं हो रहा है, तभी तो इतने बारीक सवाल करते हैं। लेकिन मैं धीरज रखकर सब के जवाब देता चला गया। अन्त में उन्होंने पूछा—'आपका स्वास्थ्य ऐसा ख़राब रहता है। ८-१० प्राणियों के निर्वाह का बोझ आप पर है। इधर महात्माजी के कामों में पड़ने से तो कभी भी जेल में जाना पड़ सकता है, इसका भी कुछ सोच लिया है ?'

"महात्माजी को पत्र लिखने से पहले ही सोच लिया था। क्या इतनी मोटी बात भी न सोचता ?"

'तो क्या सोचा है ? जेल चले गये तो घरवालों की गुजर कैसे होगी ?

'कैसे होगी—जैसे भगवान् करावेगा वैसे होगी। जब तक मैं आजाद हूं, जिन्दा हूं और बीमारी से बिछौने पर पड़ नहीं गया हूं तब तक मेरा धर्म है कि पहले घर वालों को खिलाऊं, फिर मैं खाऊं। जिस दिन मैं जेल चला गया, मर गया या बीमारी से बिछौने पर पड़ गया उस दिन उनका भगवान् मालिक। मेरे मर जाने पर जो उनका होगा वही जेल जाने पर होजायगा। कोई खैर-खबर लेने वाला न हुआ तो ५२ लाख भिखमंगों में ८-१० की संख्या और बढ़ जायगी। इससे अधिक क्या होगा ? वह दिन मेरी सच्ची परीक्षा का होगा। जेल में यदि मैं सुनूंगा कि मेरे परिवार के लोग भीख मांग रहे हैं तो मैं इसे 'स्वराज्य' के लिए अपना सम्पूर्ण त्याग समझकर हर्ष से फूला न समाऊंगा। इससे अधिक तो मैंने और कुछ नहीं सोचा है।'

जमनालालजी शायद ऐसे उत्तर के लिए तैयार न थे। वे बहुत प्रभावित हुए। सहानुभूति के स्वर में बोले—'नहीं, आखिर जो देश के लिए कष्ट सहते हैं, उनके परिवार वालों की चिन्ता करने वाले लोग भी होते हैं। आपको कोई चिंता नहीं रखनी चाहिए। मैंने तो यह देखने के लिए यह प्रश्न किया था कि आपकी कितनी तैयारी है। आपके उत्तर से मुझे बहुत सन्तोष हुआ।'

इसी अवसर पर जमनालालजी की कड़ाई के एक-दो प्रसङ्ग और याद आ रहे हैं। मैं सत्याग्रहाश्रम साबरमती में सपरिवार रहने लगा था।

जमनालालजी ने भी अपने रहने के लिए एक अलग बंगला बनवाया। उनका स्वभाव ही था कि जिसे अपनाते सच्चे हृदय से अपनाते। 'हिन्दी नवजीवन' की अन्तिम जिम्मेदारी उन्हीं पर रखी गई थी, अतः मुझसे व मेरे परिवार से उन्होंने बड़ी जल्दी घनिष्ठता स्थापित कर ली। मैं सङ्कोची हूं—फालतू जान-पहचान बढ़ाने की आदत नहीं है। काम-काज के सिल-सिले में जितना परिचय हो जाय उतना ही काफी समझता हूं। पर जमनालालजी का प्रेम आक्रामक था। इस घनिष्ठता के भरोसे मैं एक प्रस्ताव लेकर उनके पास पहुंचा। धार (मालवा) में एक मालवीय भवन–बोर्डिङ्ग हाउस था। उसके व्यवस्थापक बंबई में चन्दा करने गये हुए थे। वहां से उन्होंने मुझे लिखा कि यहां के लोग कहते हैं कि यदि जमना-लालजी पहले चन्दा लिख दें तो यहां अच्छी रकम मिल सकती है। आप उनसे सहायता लिखवा लें तो हमारा काम आसान होजाय।'

मैंने मन में सोचा यह बहुत मामूली बात है। जमनालालजी अच्छे कामों में सहायता दिया ही करते हैं। मैंने इसी तरह सीधा प्रस्ताव उनके सामने रख दिया। मुझे याद पड़ता है, उस दिन देवदासभाई भी किसी काम से उनके पास गए या बैठे हुए थे। जमनालालजी बोले—'मैं बिना जान-पहचान के किसी को चन्दा नहीं देता।' मेरे सिर पर मानो पत्थर गिर पड़ा। तो भी मैंने जब्त करके कहा—

'लेकिन मैं इन्हें जानता हूं।'

'आपने खुद इनका काम देखा है?'

'हां, मैं खुद धार गया था—इनकी संस्था में भी हो आया हूं।'

'किंतु मेरे सन्तोष के लिए इतना काफी नहीं है। जब तक मैं खुद नहीं देख लेता तब तक मैं कहीं चन्दा या सहायता नहीं दिया करता।'

मैंने बड़ा साहस करके कहा—'तो आप खुद न दीजिए, दूसरों से दिला दीजिए।'

'वाह, ऐसा कैसे हो सकता है? जिस काम में मैं खुद न दूं उसमें

दूसरों को देने की कैसे प्रेरणा कर सकता हूं। यदि काम अच्छा है तो मुझे खुद क्यों न देना चाहिए ?'

'पर काम तो अच्छा है, मैं जानता हूं।

'लेकिन मैंने तो नहीं देखा है।'

सारी बातचीत में काफी बेरुखी उन्होंने दिखलाई। मुझे बहुत बुरा लगा। उनके स्वभाव का यह पहलू मेरे लिए बिलकुल नया था। जीवन में किसी से कुछ सहायता मांगने या दिलाने का यह पहला ही अवसर मुझे था। मैं बड़े आत्म-विश्वास से उनके पास गया था। वह सब चूर-चूर होगया। देवदासभाई के सामने मैंने अपने को बहुत लज्जित व अपमानित भी अनुभव किया। पछताने लगा कि ऐसे बे-रुखे आदमी के पास जाकर नाहक ही अपनी बात गंवाई। बड़ी बेवकूफी की। मेरे जी में दो-तीन घण्टे तक उथल-पुथल मचती रही। अन्त को मैंने उन्हें एक खत लिखा, तब शांति हुई।

मैंने लिखा—"जीवन में यह पहली बार मुझसे बेवकूफी हुई है,—आपके स्वभाव व तौर-तरीके से परिचित नहीं था, इसीसे यह ग़लती हुई। आप विश्वास रखें, जिन्दगी में अब आपके पास ऐसी धृष्टता नहीं करूंगा। इस बार जो आपको कष्ट दिया उसके लिए क्षमा चाहता हूं।"

पत्र पाते ही वे मेरे घर दौड़े आये। तरह-तरह से मुझे समझाते व ऐसे मामलों के अपने कटु अनुभव व ऊंच-नीच बताते रहे। तुमको 'अपना' समझता हूं, इसीलिए इतनी बे-रुखी से पेश आया। बापू के यहां भी कुछ ऐसी बातचीत हो गई थी, जिससे मेरा चित्त स्वस्थ नहीं था। दो घण्टे तक मुझसे व मेरी माताजी से बातचीत करते रहे व खुद ही माताजी से मेरे यहां भोजन करने का प्रस्ताव रख के अपने घर गये। चलकर भोजन करने का प्रस्ताव रख जाना—यह उनकी आत्मीयता की पराकाष्ठा थी। एक ही दिन में उनके दो सिरे के परस्पर विरुद्ध स्वभावों का यह परिचय मेरे लिए और भी कुतूहल का विषय था। इसमें उनकी महानता छिपी हुई थी। अहिंसा का यह पदार्थ-पाठ ही उन्होंने मुझे दिया।

उन्होंने शायद महसूस किया कि उनका व्यवहार मुझे बहुत नागवार लगा। इसका कितना बड़ा परिशोधन ?

ऊपर से कठोरता और भीतर से सहृदयता का एक और संस्मरण यहां लिख देता हूं। नागपुर-झण्डा-सत्याग्रह के समय की बात है। जमनालालजी उसके 'लीडर' की हैसियत से गिरफ्तार हो चुके थे। झंडा-सत्याग्रह को बल देने के लिए ए० आई० सी० सी० (महासमिति) की मीटिंग नागपुर में हुई थी। उस समय अजमेर-प्रांत की ओर से मैं उसका सदस्य था और उसमें जाने की बड़ी उत्सुकता थी। पर खर्च कहां से लावें ? जो वेतन मैं लेता था वह घर-खर्च पुरता था। उसमें लम्बे सफर की गुंजायश नहीं निकल सकती थी। मैंने सोचा कि आगे-पीछे जमनालालजी से कुछ व्यवस्था कर लेंगे, अभी तो दफ्तर से पेशगी ले लो। जमनालालजी से नागपुर जेल में मिला तो उन्होंने प्रश्न किया—यहां तक आने के खर्च का क्या इन्तजाम किया ? मैंने सरल भाव से कह दिया—'अभी तो दफ्तर से पेशगी ले आया हूं, यही सोचा था कि आगे पीछे आपसे प्रबन्ध करा लूंगा।'

उन्हें मेरी यह पद्धति ठीक न मालूम हुई। जरा झल्लाकर बोले—'आपने जब पहले मुझसे पूछ नहीं लिया है तो इस तरह मेरे भरोसे पेशगी लेना उचित न थो। आप ही कहिये, यह वाजिब हुआ ?'

यह दूसरा वज्र-प्रहार मुझ पर हुआ। मैं शरम से बिलकुल गड़ गया। मन में सोचा, नाहक ही इनसे इतनी आशा की, जो इतनी बात सुनने की नौबत आई। परन्तु उनका एतराज ठीक था; अतः कहा—

'वाजिब तो नहीं था, पर आप इसकी चिन्ता न करें, मैं कोई-न-कोई दूसरा प्रबंध कर लूंगा।'

वे कुछ बोले नहीं। मैं चला आया। मेरे बाद ही स्वामी आनन्द उनसे मिले। वे नवजीवन-संस्था के जनरल मैनेजर थे। जब महीना अखीर हुआ व वेतन का समय आया तो स्वामीजी ने मुझे वेतन के पूरे रुपये दिये। मैंने पेशगी रकम कटाने का सवाल पेश किया तो बोले—मुझे

नागपुर जेल में जमनालालजी ने नोट करा दिया था कि वह रकम उनके नामे मांड दी जाय। मैंने कहा—इसकी जरूरत नहीं है, आप इसमें से काट लीजिए। उन्होंने कहा—जमनालालजी की हिदायत के खिलाफ मैं नहीं जा सकता। मेरा हृदय जमनालालजी की उच्च हृदयता के सामने झुक गया। उन्होंने मुझे नसीहत भी की, फिर सहारा भी दिया। वे कोरे उपदेशक न थे।

एक और प्रसङ्ग भी लिख दूं। ग्वालियर राज्य के भूतपूर्व होम मेम्बर (स्वर्गीय) खाशेराव पवाँर ने मुझे जरूरी में बुलाया। जब वे देवास (छोटी पांती) के प्रधान मन्त्री थे तभी (१९१४-१५ ईसवी) सरवटे[1] साहब ने उनसे मेरा परिचय करा दिया था। मैं खर्च के लिए दफ्तर से पेशगी लेकर चला गया—खयाल तो यही किया था कि खाशे साहब खर्च की व्यवस्था करेंगे। वे चाहते थे कि पूना में शिवाजी महाराज या शायद माधव महाराज (ग्वालियर के भूतपूर्व महाराजा) के पुतले का अनावरण महात्माजी के हाथों हो और उसमें वे मेरी सहायता चाहते थे। बातचीत के उपरान्त मैं साबरमती लौटा तो प्रसङ्ग से जमनालालजी ने पूछा—कहां गये थे? मैंने किस्सा सुना दिया। बोले—खर्च का क्या इन्तजाम किया था।

मैंने झेंपते हुए कहा—'सोचा था कि वे दे देंगे; पर उन्होंने इस विषय में कुछ पूछा ही नहीं। सम्भव है, बहुत छोटी बात समझ कर उन्होंने कुछ ध्यान न दिया हो। मुझे भी खुद कहने में सङ्कोच हुआ।'

'मुझे ऐसी ही आशङ्का थी, इसलिए मैंने यह चर्चा चलाई। जो बुलाता है उसका फर्ज है कि वह खर्चे का इन्तजाम करे। लेकिन लोग अक्सर अपनी इस जिम्मेदारी को नहीं समझते। आप सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं। फिर खर्च पुरता ही वेतन लेते हैं। आप जैसों को क्यों सङ्कोच करना चाहिए? या तो पहले ही खर्च मंगा लेना चाहिए, या तय करा लेना चाहिए अथवा बाद में भी मांग लेने में क्यों झिझकना चाहिए?'

---

१. इन्दौर के प्रसिद्ध विद्वान् नेता श्री विनायक सीताराम सरवटे।

'पहली दो बातें तो ठीक हैं; पर पिछली तो मुझसे इस जन्म में नहीं हो सकती।'

अब भी जब कभी मैं विचार करता हूं तो बुद्धि तो यही जवाब देती है कि सार्वजनिक सेवक को अपनी आवश्यकता भर मांग लेने में सङ्कोच या झिझक न होनी चाहिए। झिझक या लज्जा का कारण उनके अन्दर रहा सूक्ष्म अहङ्कार ही मालूम होता है। स्वाभिमान व अहङ्कार में बड़ी सूक्ष्म विभाजक रेखा है। सामने वाला जब हमसे अनुचित व्यवहार करता या कराना चाहता हो तब जो विरोध का भाव मन में पैदा होता है वह स्वाभिमान है; अपनी खुशी से उपयोगी व धर्म समझकर जो व्यवहार किया जाता है उसमें यदि लज्जा या अपमान का अनुभव हो तो वह अहङ्कार का चिह्न है।

: १९ :

जब्त के अवसर

अहिंसा के मानी हैं चतुर्मुखी संयम। अब तक जो अहिंसा की धारा शायद पूर्वार्जित संस्कारों के बल पर मेरे अन्दर बह रही थी वह अब महात्माजी के चरणों में पहुंच जाने के बाद बुद्धि-युक्त होने लगी। मुझे भीतर से ऐसा लगने लगा कि अपनी 'तुनक-मिज़ाजी' कम होनी चाहिए। 'सरस्वती' छोड़ी, 'प्रताप' छोड़ा—अब 'नवजीवन' छोड़ने की बारी न आनी चाहिए। महात्माजी के पास पहुंचकर जो 'हिन्दी नवजीवन' निकालने का अवसर आया उसे मैंने ईश्वर के द्वारा प्रकारान्तर से अपनी उन भावनाओं की पूर्ति ही समझा जो विद्यार्थी-जीवन में 'केसरी' जैसा पत्र हिंदी में निकालने के बारे में मेरे मन में उदय होती रहती थीं। इससे पहले कभी स्वप्न में भी यह खयाल न हुआ था कि महात्माजी की छत्र-छाया में रहने का कभी सौभाग्य मिल सकता है। साबरमती पहुंचने के शायद १-२ महीने पहले ही इन्दौर में बैजनाथजी व मेरे एक भाई से बातचीत होते हुए मेरे मुंह से ये उद्गार निकल पड़े थे—'यदि आप लोगों का यह खयाल सही है कि इन्दौर में मेरे दिन व्यर्थ जारहे हैं, मेरे लायक यहां का वातावरण नहीं है, तो मुझे अवश्य ही कोई अनुकूल अवसर व वातावरण मिले बिना न रहना चाहिए।' इतने शीघ्र ही ऐसा अवसर मिलने से मुझे उसमें प्रत्यक्ष ईश्वर का हाथ दिखाई देता था। ये सब भावनाएं व कारण मिलकर मेरे लिए वे सीमाएं निर्धारित कर रही थीं जिनमें मेरा छुई-मुईपन अपने आप नियंत्रण में आने लगा। इस

सिलसिले में मैंने तीन निश्चय किये—(१) अपने ऊपरी लोगों को शिकायत का कोई अवसर न देना चाहिए। (२) अपनी सुख-सुविधा के लिए किसी से कुछ न कहना चाहिए व तुनक-मिज़ाजी में 'हिन्दी नवजीवन' छोड़कर कहीं न जाना चाहिए।

स्वामी आनन्द खुद भूत की तरह काम करने वाले आदमी थे। वह बाल-ब्रह्मचारी गायत्री पुरश्चरण किये हुए, एक तेजस्वी ब्राह्मण हैं। उन्होंने जब कोई आज्ञा किसी को दी तो उसका पालन होना ही चाहिए। कार्य-तत्पर व कार्यदक्ष ऐसे कि मिनटों में महल खड़े कर दें व तेज मिज़ाज भी ऐसे कि मिनटों में उसे ढहा भी दें। खुद महात्माजी भी इसमें उनकी दाद देते थे। उन्हींके मातहत मुझे काम करना था। हिंदी सम्पादकीय विभाग से यद्यपि उनका सम्बन्ध न था, तो भी सारी 'नवजीवन-संस्था' के वे सर्वेसर्वा बने हुए थे। हिंदी टाइप का अहमदाबाद में चलन नहीं के बराबर होने से 'हिंदी-नवजीवन' के शुरू के अङ्कों को निकालने में बड़ी बाधाएं पेश आतीं। कई प्रेसों में कम्पोज कराया,जाता, फिर एक जगह फार्म मंगाकर छापा जाता। हिंदी टाइप का आर्डर बम्बई दे दिया गया था, मगर वहां से बड़ी सुस्ती हो रही थी। अतः स्वामीजी का हुक्म हुआ—आप तीन दिन तक अहमदाबाद में रहकर 'हिंदी नवजीवन' निकालिए व तीन दिन तक बम्बई में रहकर नया टाइप ढलवाकर जल्दी भिजवाइए। मेरा खयाल है कोई एक महीने तक इस तरह दिन-रात दौड़-धूप लगी रहती। गुजराती कम्पोजीटर हिंदी का बड़ा ग़लत कम्पोज़ करते। मेरी लिखावट उनके पढ़ने में नहीं आती थी। स्वामीजी का आर्डर हुआ कि एक स्लिप में सात सतरें, एक सतर में पांच-छः शब्द साफ-साफ अलग-अलग लिखा कीजिए। फिर भी शुरू में प्रूफ संशोधन करते-करते मेरी नाकों दम आजाता। 'पेपर' के दिन तो दिन-रात ही जागना पड़ता। फिर मेरा स्वास्थ्य तो खराब रहता ही था। मगर मैं न हारने का प्रण कर चुका था। पहला अङ्क निकलते ही स्वामीजी से टक्कर होने का अवसर आगया।

'हिंदी नवजीवन' के निकलते ही बम्बई में गुजराती 'नवजीवन' की मांग कम हो गई। तब स्वामीजी ने हुक्म निकाल दिया कि बम्बई में 'हिंदी नवजीवन' की फुटकर बिक्री नहीं होगी, जो ग्राहक बन जायंगे उन्हें डाक से भेजा जायगा। गुजराती 'नवजीवन' के खातिर इस तरह 'हिंदी नवजीवन' का प्रचार रोक देना बहुतों को अखरा। जमनालालजी को भी यह अनुचित प्रतीत हुआ। स्वामीजी को समझाया, पर उन्होंने अपना आर्डर नहीं बदला। मेरा विचार हुआ बापूजी से इसका फैसला कराना चाहिए। मैं बापू के पास गया तो वहां पहले से ही एक सज्जन स्वामीजी की शिकायत लिये बैठे थे—'जब मैं पहुंचा तो बापू के ये शब्द मेरे कानों में पड़े, 'मैं जानता हूं स्वामी बहुत तेज आदमी है, कभी-कभी ज्यादती भी कर जाता है, पर मेरे पास उसके जैसा दूसरा प्रबंधक नहीं, तुम खुद उसका काम संभाल लो या दूसरा आदमी लाओ तो मैं उसे दूसरे काम में लगा दूं। मुझे भी उसकी कुछ बातें अच्छी नहीं लगतीं, पर सहन करता हूं।' यह सुनकर मैंने अपनी बात अपने मन में ही रख ली। मैं समझ गया, यही जवाब अपने को भी मिलने वाला है। अब स्वामीजी से लड़ने में फायदा नहीं, स्वामीजी का हृदय जीतकर ही उन्हें पटाया जा सकता है।

जो मनुष्य जैसी रुचि या स्वभाव का होता है उसे वैसे ही काम व वैसे ही व्यक्ति पसन्द आते हैं। मिहनती आदमी को काहिल से नफरत होती है। आज्ञादायी आज्ञापालन से खुश रहता है। तेज मिजाज आदमी अपनी आज्ञा की अवहेलना सहन नहीं कर सकते। स्वामीजी मिहनती भी थे व तेज मिजाज भी। मैंने निश्चय किया कि चाहे दिन-रात वक्त-बेवक्त कैसे ही काम क्यों न करना पड़े, कभी 'नाहीं' नहीं करेंगे। स्वामीजी की जैसी हिदायतें होंगी उनका अक्षरशः पालन कर देंगे। स्वामीजी जब बुलाते प्रेस आजाता; जैसी व जिस क्रम से कापी मांगते उसी तरह देता; जब जहां भेजते चला जाता; अपनी सुख-सुविधा का कभी कोई उज्र खड़ा नहीं करता। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वामीजी मुझपर प्रसन्न ही नहीं रहने लगे, मेरा लिहाज भी रखने लगे। बम्बई में फुटकर बिक्री न

होने देने सम्बन्धी अपना आर्डर तो उन्होंने नहीं बदला, पर अब 'हिंदी-नवजीवन' भी उनके लिए उतने ही ध्यान का विषय बन गया जितना कि गुजराती 'नवजीवन' था। कई बार 'हिंदी-नवजीवन' का व मेरा काम पहले कर देते। कभी देर होजाती या कुछ और गड़बड़ होजाती तो स्नेह से निबाह लेते। यहां तक कि आगे चलकर जब १९२५ में श्री जमनालालजी व शंकरलालजी बैंकर ने मेरे राजस्थान में जाकर काम करने की स्वीकृति बापूजी से ले ली तो स्वामीजी बापू से लड़े—'क्या हरिभाऊ पर मेरा हक नहीं है। मेरी राय लिये बिना आपने कैसे उनके जाने का फैसला कर दिया? वे मुझे छोड़कर नहीं जा सकते।' अन्त में बापू को अपना फैसला स्थगित कर देना पड़ा।

इस प्रकार स्वयं-प्रेरित संयम के जो अवसर आये, उनसे मुझे बड़ा लाभ हुआ। 'हिन्दी-नवजीवन' के लिए बापू के 'यंग-इण्डिया' व 'नवजीवन' के लेखों का जो अनुवाद करना पड़ता था, उससे सत्य, अहिंसा, खादी-सम्बन्धी बहुत भोजन मुझे मिलने लगा। इसी समय मेरी बुद्धि ने अहिंसा-धर्म सदा के लिए ग्रहण कर लिया। यह प्रत्यक्ष जान पड़ा कि बापू कोई द्रष्टा हैं, युग-पुरुष हैं। ज्यों-ज्यों अहिंसा का मर्म समझ में आता गया त्यों-त्यों 'तुनक-मिज़ाजी' अपने-आप दबती गई। दूसरों को अहिंसात्मक पद्धति से जीतने के प्रयोगों में दिलचस्पी होने लगी। अहिंसा के उदय का फल यह निकलना चाहिए कि लोग हमसे मतभेद भले ही रखें, पर हमारे प्रति उनकी सद्भावना जरूर रहे व बढ़ती रहे। हर दल व गिरोह में हमारी चाह हो व रहे। हरेक को हम 'अपना आदमी मालूम होते रहें।' मुझे इसका अनुभव एक घटना से हुआ।

आश्रम—साबरमती में उस समय तीन व्यक्ति प्रधान थे—स्वर्गीय मगनलालभाई गांधी, काकासाहब कालेलकर, स्वर्गीय महादेवभाई देसाई। मगनभाई आश्रम के व्यवस्थापक थे, काकासाहब राष्ट्रीय विद्यालय के आचार्य, व महादेवभाई बापू के दाहिने हाथ। कार्य-विभाग, रुचि-वैचित्र्य, स्वभाव-भेद से तीनों में बाज-बाज बातों पर मतभेद रहता था; मगनभाई

व काका साहब में इसकी मात्रा अधिक होजाती थी। मैं तीनों से सम्पर्क रखता था, तीनों को अपना 'गुरुजन' मानता था। बचपन से ही मुझे मेरे चाचाजी ने यह शिक्षा दी थी कि 'दो शत्रुओं में सदा मेल कराने का यत्न करना चाहिए—कम-से-कम मित्रों में फूट डालने की जिम्मेदारी तो अपने ऊपर हरगिज न लेनी चाहिए।' मैं वहां सदैव एक तरफ की वही बात दूसरी तरफ कहता था जिससे आपस में स्नेह व सौहार्द्र बढ़े। एक दूसरे के गुणों व सद्भावनाओं की ही चर्चा एक-दूसरे से करता। एक की की हुई आलोचना नहीं, बल्कि प्रशंसा दूसरे तक पहुंचाता। अतः ये तीनों मुखिया मुझे अपना स्नेह-पात्र समझते थे। जब जमनालालजी ने इन तीनों से अलग-अलग यह पूछा कि आश्रम में कौन व्यक्ति ऐसा है जो बापू के सिद्धान्तों को समझता है, व जिसे राजस्थान में काम करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है तो मगनभाई ने मेरा नाम सुझाया, काकासाहब ने भी मेरा ही समर्थन किया, महादेवभाई ने कहा—'आदमी तो एक हरिभाऊ ही यहां ऐसा है, पर मैं नहीं समझता कि उसका स्थान आश्रम को छोड़कर कहीं अन्यत्र है।' खुद श्री जमनालालजी ने ही किसी अवसर पर मुझे यह बात कही थी। जब तीनों ओर से समर्थन प्राप्त हुआ तब मेरा नाम बापू के सामने रखा गया, लेकिन अन्त में स्वामीजी ने उस फैसले को उस समय तो रद्द करा दिया।

: २० :

सिपाही की स्प्रिट

अब मैं अपने को अहिंसात्मक-सेना का एक सिपाही मानने लगा। जिन दिनों 'हिंदी-नवजीवन' निकला, युवराज के स्वागत-बहिष्कार का आन्दोलन चल रहा था। उस सिलसिले में क्रिमिनल ला अमेंडमेंट एक्ट को तोड़ने की बारी आगई थी। मैंने भी स्वयं-सेवकों के दल में अपना नाम लिखाना चाहा। पूज्य बापू से पूछा तो उन्होंने कहा—'तुम्हें 'हिंदी-नवजीवन' का काम करते-करते ही पकड़ा जाना है। सिपाही का काम अपनी ड्यूटी पर जमा रहना है।' उनका अन्तिम वचन सदा के लिए मेरे हृदय पर अङ्कित होचुका।

जब 'हिंदी-नवजीवन' की जिम्मेदारी लेकर मैं बापू के पास रहने लगा तो मैंने उनके प्रति अपना यह व्यवहार निश्चित किया—बापू का कम-से-कम समय लेना, उनको अधिक-से-अधिक निश्चिन्त करना, काम इस तरह करना कि अपने कारण बापू को कहीं से उलहना न मिले, न खुद बापू को उलहना देना पड़े। तदनुसार बम्बई में बापू के प्रथम दर्शन के बाद, जहां तक मुझे याद पड़ता है, 'हिंदी-नवजीवन' का पहला अङ्क लेकर ही अर्थात् कोई दो-ढाई मास के बाद मैं बापू से मिला था। जब कि बड़ा-से-बड़ा आदमी भी बापू से दो मिनट मिलना अपना अहोभाग्य समझता था, तब इतने निकट रहते हुए इतने बड़े प्रलोभन को रोकने में मुझे अपने साथ बहुत लड़ना पड़ता था। परन्तु हर बार 'सिपाही की स्प्रिट' की जीत होती थी।

जब 'हिंदी-नवजीवन' का पहला अङ्क निकला तो उसे लेकर मैं महात्माजी के पास गया व कहा—'यह आपकी पसंद के माफिक निकला है या नहीं, यह जानने आया हूं।' 'अच्छा, रख जाओ, देखकर बताऊंगा।' दूसरा अङ्क निकलने पर उसे लेकर फिर मैं गया—'यह दूसरा अङ्क निकल गया। पहला आपने देख लिया होगा। आप कुछ बतावें तो—' उन्होंने हंसकर कहा—'लेकिन मैं तो अभी तक पहला अङ्क भी नहीं देख पाया हूं। अब तो मुझे शायद ही समय मिले। लेकिन तुम अपना काम उत्साह से करते रहो। जब कभी कोई बात मुझे सूझेगी तो बता दूंगा, या कोई शिकायत आवेगी तब कहूंगा। तब तक तुम ऐसा ही समझो कि तुम्हारा काम मुझे पसन्द है।'

इस उत्तर से मुझे कोई सहायता तो नहीं मिली, इतना समझ लिया कि बापू को काम बहुत है। हम भी इनको क्यों व्यर्थ कष्ट दें। इसके बाद उनसे मैंने 'हिंदी-नवजीवन' के विषय में कोई बात नहीं पूछी। कोई ६-७ महीने के बाद ही वे गिरफ्तार होकर साबरमती जेल पहुंच गये। तब एक दिन जमनालालजी ने मुझसे कहा—'जेल में बापू ने खुद चलाकर तुम्हारे लिए पूछा व कहा कि अच्छा शुद्ध आदमी है। उसकी या उसके काम की अबतक कोई शिकायत मेरे पास नहीं आई।'

मेरा मन हुआ कि जेल में जाकर बापूजी के दर्शन करूं, लेकिन दो भावों ने रोक दिया। एक तो यह कि ऐसे महापुरुष को एक बन्दी के रूप में देखने में कौन-सा गौरव है? जो संसार की सब पीड़ित जातियों के उद्धार के लिए आया है, उसे ब्रिटिश सरकार के जेलखाने में देखना अपनी पामरता को ही अधिक अनुभव करना है। दूसरे यह कि मेरा कोई काम तो ऐसा है नहीं जो उनसे मिले या पूछे बिना अटक रहा हो। अतः सिपाही को तो अपनी ड्यूटी पर ही जमे रहना उचित है।

शुक्रवार की रात को वे गिरफ्तार हुए व शनिवार को अदालत में उनकी पहली पेशी हुई। शनिवार 'हिन्दी-नवजीवन' का 'पेपर डे' था। मेरा जी ललचाया कि अदालत में मुकदमा सुनने जाऊं। पर याद

आया—'सिपाही को तो अपनी ड्यूटी पर ही जमे रहना चाहिए।' फिर मन को समझाया—'आज तो मुकदमा खतम होगा नहीं। अगली पेशी पर चलेंगे।' इत्तफाक से दूसरी व आखिरी पेशी भी शनिवार को पड़ी। वही मेरा 'पेपर डे'। किसी ने, शायद स्वामीजी ने,कहा था कि देख आओ, पेपर एक दिन लेट कर दो। सारे हिंदुस्तान से बड़े-बड़े लोग आये हैं मुकदमा ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, बापू का वक्तव्य अपने ही ढंग का होगा—परन्तु मुझे ड्यूटी छोड़कर जाना अच्छा नहीं लगा। इतना बड़ा सौभाग्य मुझे छोड़ना पड़ा, इसका रञ्ज होने के बजाय उलटा 'अपनी ड्यूटी में लगा रहा' इस बात का सन्तोष ही अबतक मुझे है। अहिंसात्मक सेना में तो कड़े अनुशासन की और भी आवश्यकता है। जब मैं स्वयं-सेवकों को केवल अधिवेशन देख लेने, बड़े नेताओं के सम्पर्क में आजाने, या अपनी ड्यूटी छोड़कर जलसा देखने के लिए आ जुटने के दृश्य देखता हूं तो अपने सैनिक अनुशासन की कमी व इसलिए स्वराज्य-प्राप्ति में होने वाली देरी का मर्म आंखों के सामने आ जाता है। अहिंसक सिपाही मारता नहीं, खुद मरता है; दूसरे को कष्ट नहीं देता, खुद कष्ट उठाता है; दूसरे का द्वेष-द्रोह नहीं करता, दूसरे भले ही उसका द्वेष-द्रोह करते रहें; पर काम तो उसे भी एक अनुशासन में रहकर ही करना पड़ता है। यदि ऊपरियों की आज्ञा मानने व पालने, अपनी ड्यूटी पर रहते हुए बड़े-से-बड़े प्रलोभनों को ठुकरा देने, खुशी-खुशी नियमों का पालन करने की प्रवृत्ति स्वयंसेवकों में न हो तो वे कदापि अहिंसक युद्ध में—सत्याग्रह में नहीं जीत सकते। एक सत्याग्रही को अपनी सारी लड़ाई अकेले भी, व संगठित रूप में भी चलानी पड़ती है। अकेले की लड़ाई तो मुख्यतः उसके गुण-बल, तपोबल से चलेगी; परन्तु सामूहिक लड़ाई बिना सङ्गठन व अनुशासन के कदापि नहीं लड़ी जा सकती। अकेले की लड़ाई में भी उसे आत्म-संयम, आत्मानुशासन की बहुत आवश्यकता रहेगी। उसके शरीर के सब अंग-प्रत्यंग, मन की विविध भावनाएं, व बुद्धि के समग्र विचार जबतक एक ताल-सुर में काम न करने

लगेंगे तबतक वह अकेले भी सच्चा सैनिक नहीं बन सकता। उसके तन, मन, आत्मा की सारी शक्ति सामने वालों का प्रतिकार करने में नहीं लग सकती। अतः क्या व्यक्तिगत व क्या सामूहिक दोनों प्रकार के संग्रामों में संगठन व अनुशासन उसी प्रकार अनिवार्य हैं, जिस प्रकार शरीर को कायम रखने के लिए फेफड़ों में शुद्ध हवा का आना व जाना जरूरी है।

महात्माजी की गिरफ्तारी व सजा के बाद 'हिन्दी-नवजीवन' के सम्पादकत्व का सवाल उठा। जमनालालजी ने सलाह दी कि 'सम्पादक के स्थान पर वैजनाथजी का नाम दे दो; तुम्हारे पीछे बड़ा कुटुम्ब है, तुम्हारा स्वास्थ्य भी खराब रहता है, सम्पादक में नाम जाने से किसी भी समय जेल जाने की नौबत आ सकती है।' मुझे उनके प्रस्ताव पर तो आपत्ति नहीं थी, पर दलीलें नहीं जचीं। मैंने कहा—'यदि नाम देने में कोई बड़ाई या प्रसिद्धि का सवाल है तो शौक से वैजनाथजी का नाम दिया जाय। मैंने अभी तक कहीं भी अपने नाम का प्रचार नहीं चाहा है। लेख-कवितादि बनावटी 'मालव-मयूर' 'भारत-भक्त' आदि नामों से देता रहता हूं। मेरा मत है कि मनुष्य को अपना नाम तब देना चाहिए, जब उसके कार्यों से लोग उसे जानने के लिए उत्सुक हो उठें। अतः नाम का मुझे शौक नहीं है; परन्तु यदि नाम देने में खतरा है, जैसा कि आप बताते हैं कि जेल जाना होगा, तो इस गौरव का पहला अधिकारी मैं हूं, मेरे जेल जाने के बाद महोदयजी का नाम दिया जायगा।' जमनालालजी को मेरी दलील ठीक मालूम हुई व 'हिन्दी-नवजीवन' के सम्पादक की जगह मेरा नाम जाने लगा।

मेरे मत में सिपाही वह है जो खतरे के सामने दौड़ा जावे। खतरे को निमन्त्रण देना मूर्खता हो सकती है, पर सामने आये खतरे से मुंह मोड़ने वाला सिपाही हरगिज नहीं हो सकता। जो अपने को खतरे में डाल सकता है वही दूसरे को खतरे से बचा सकता है। खुद को खतरे में डालकर दूसरे को बचाना अहिंसा का ही एक रूप है।

: २१ :

राजस्थान में

मेरे साबरमती आने के बाद जीतमलजी बनारस चले गये। वहां उनकी इच्छा हुई कि 'मालव-मयूर' निकाला जाय, व मुझे लिखा कि आप सम्पादन-भार ग्रहण कर लीजिए। मैंने तुरन्त 'हां' कर ली। एक पुराना संकल्प पूरा होने जारहा था। 'मयूर' छोटा था—पर पाठकों के हृदयों में नाचने लगा—ऐसा कहूं तो अत्युक्ति न होगी। साबरमती के गुरुजनों व मित्रों के सहयोग, सुझाव आदि से वह हिंदी के गण्यमान्य पत्रों में खपने लगा। 'प्राचीन मालव' नामक लेख-माला मैंने गुजरात विद्यापीठ की लायब्रेरी में रात-रात भर जगकर बड़े परिश्रम से लिखी थी। हिंदी में शायद पहली बार वह सामग्री पाठकों को मिली थी। 'मयूर' की कुछ समालोचनाएं पढ़कर भाई प्यारेलालजी ने कहा था—आपकी यह शैली बिलकुल नई है। उसके 'स्वगत' पाठकों में स्फुरणा पैदा करते थे। आबू सम्बंधी मेरे लेख भी बहुत रुचि से पढ़े गए। पूज्य बापूजी के जेल रहते हुए 'हिंदी-नवजीवन' जिस तरह चला उससे मित्रों व पाठकों को काफी संतोष रहा। एक पत्र ने तो समालोचना में यहां तक लिखा था कि—मालूम होता है महात्माजी ही जेल से लेख लिखकर भेज देते हैं। 'हिंदी-नवजीवन' 'मालव-मयूर' दोनों का काम व मेरा आश्रम में आचार-व्यवहार देखकर जमनालालजी के मन में यह भाव पैदा हुआ कि इसे राजस्थान में भेजा जाय। इधर कोरे लेख लिखते-लिखते व उनमें रचनात्मक कामों का महत्त्व समझाते-समझाते मुझे अपनी

लेखनी खोखली मालूम पड़ने लगी। बिना प्रत्यक्ष काम किये कोरे लेख लिखते रहने से मन में असन्तोष रहने लगा। इधर बावाजी राजस्थान जा पहुंचे थे, व तकाजा कर रहे थे कि तुम इधर काम करने आओ।

शायद १९२४ में फतेहपुर (जयपुर) में अग्रवाल महासभा का जल्सा था। राजस्थान में खादी के काम को बढ़ाने व सुव्यवस्थित करने के लिए अखिल भारतवर्षीय चर्खा-संघ के मन्त्री श्री शंकरलालभाई बैंकर व श्री मगनलालभाई गांधी उन्ही दिनों जयपुर रियासत में आये हुए थे। जमनालालजी की प्रेरणा से मैं भी उनके साथ फतेहपुर गया। वहां श्री जयनारायण व्यास[1] से पहली बार भेंट हुई। जीतमलजी भी आये। वे बनारस जाकर उल्टा दुःख में पड़ गये थे। इन्दौर में एकबार उनके और मेरे बीच चर्चा चली थी कि सार्वजनिक सेवकों को निर्वाह की समस्या कैसे हल करना चाहिए। जीतमलजी का मत था कि पहले कमा-कर रुपया जोड़ लें, फिर बेफिक्री से देश-सेवा करते रहें। मैंने बताया था कि अव्वल तो १०-१५ साल दिये बिना काफी रुपया जुट नहीं सकता। जुटा भी तो तब तक हमारी सेवा-भावनाएं कायम भी रहेंगी या नहीं, कौन कह सकता है। रहीं भी, तो जीवन के अच्छे जवानी के काम-काज करने के दिन तो धन कमाने में गये, थका-मांदा अधेड़ शरीर हम देश के हवाले करेंगे। फिर रुपया जोड़ने में कुछ-न-कुछ तिकड़म, बेईमानी जरूर करनी पड़ेगी, ये संस्कार हमारी देश-सेवा में बाधक होंगे, अतः यह रास्ता गलत है। यदि हमें सेवा ही करनी है तो हम तो अपने इसी संकल्प पर दृढ़ रहकर अपनी रुचि का सेवा-कार्य चुन लें, व निर्वाह की साधारण व्यवस्था सोचकर शेष भार परमात्मा पर छोड़ दें। मैंने इस प्रसंग की याद दिलाकर जीतमलजी से कहा—बोलो, आप घाटे में रहे कि मैं। उनकी भी इच्छा हुई कि कोई सेवा-प्रधान साहित्यिक काम किया जाय। मैंने जमनालालजी से उनका परिचय कराया। उन्होंने उन्हें

१—अब राजपूताना के नेता।

प्रोत्साहन दिया। जमनालालजी बार-बार स्व० भिक्षु अखण्डानन्दजी के गुजराती के सस्तुं साहित्य-वर्द्धक कार्यालय की प्रशंसा किया करते थे, व चाहते थे कि हिन्दी में भी ऐसी ही संस्था खुले तो अच्छा। जीतमलजी के मिल जाने से उनका यह स्वप्न पूरा होने के लक्षण दिखाई देने लगे। ऐसी संस्था हिंदी में खड़ी करने की योजना पर थोड़ा विचार हुआ। यही समागम 'सस्ता साहित्य मंडल' की बुनियाद है!

फतेहपुर महासभा के बाद शङ्करलालभाई व मगनलाल भाई के साथ मैं अमरसर, गोविंदगढ़ आदि खादी-केन्द्रों को देखने गया। वहां खादी कार्य में जो रुचि मैंने दिखलाई, खादी-यात्रा पर जो लेख 'हिंदी-नवजीवन' के लिए लिखे उनसे शङ्करलालभाई मेरी ओर आकर्षित हुए। शायद इन्हीं दिनों उनके मन में यह विचार दृढ़ हुआ कि खादी-प्रचार के लिए यह आदमी राजस्थान में उपयोगी हो सकता है। फिर जमनालालजी की व उनकी बातचीत होने पर यह तय हुआ कि इसे खादी-प्रचार व गांधी विचार-प्रचार की दृष्टि से राजस्थान में भेजना चाहिए। जब जमनालालजी ने मुझसे पूछा तो—मैं तो पहले ही से इस उधेड़-बुन में था—मैंने उनके सुझाव का स्वागत किया। पूज्य बापूजी से उनकी बात भी होगई, पर स्वामी आनन्द ने उस फैसले को उलटवा दिया।

कुछ समय बाद मैंने खुद ही स्वामीजी से बात-चीत की कि आप क्यों मुझे यहां रोकना चाहते हैं। मैंने भी यह सोच लिया था कि स्वामीजी के आशीर्वाद मिले बगैर यहां से जाना न हो सकेगा, व जाना उचित भी न होगा। अतः उन्हें राजी करने का मैं यत्न करने लगा। उन्होंने कहा, सबसे बड़ी बात तो 'हिंदी-नवजीवन' की है। उसे कौन चलावेगा? नये-नये आदमियों से मुझे रोज झंझट करना पड़ेगा। आपके लिए तो मैंने कभी सोचा ही नहीं था कि 'हिंदी-नवजीवन' के सिवा आपका कोई स्थान है, या हो सकता है। मैंने समझाया कि किस तरह मुझे खुद अपनी लेखनी खोखली मालूम होती है, किस तरह बचपन से मेरे मन में अपने प्रांत की सेवा के भाव दृढ़ होरहे थे, 'मालव-मयूर' के

कारण किस तरह उसके लिए अब क्षेत्र अनुकूल होगया है, बापू से सीख-कर यदि लोग दूसरे प्रांतों में जावें तो किस तरह बापू का काम सुगम हो सकता है, व साथ ही आश्वासन दिया कि 'हिंदी-नवजीवन' के लिए आदमी की चिंता आपको न करनी पड़ेगी। मैं भेजता रहूंगा, यदि कोई न मिला तो मैं राजस्थान छोड़कर खुद वापिस आजाऊंगा, मगर 'हिन्दी नवजीवन' का हर्ज न होने दूंगा। यों मेरा मन भी अब यहां से उचटने लगा है। वहां अधिक काम कर सकूंगा, ऐसी आशा होती है। परन्तु आपका आशीर्वाद न मिले तो हर्गिज नहीं जाऊंगा। तब स्वामीजी राजी होगए व पूज्य महात्माजी से मुझे राजस्थान में जाने की इजाजत मिल गई। उनसे भी यह शर्त करनी पड़ी कि 'हिन्दी-नवजीवन' की चिंता आपको न करनी पड़ेगी। राजस्थान में रहते हुए वह मेरी पहली जिम्मेदारी रहेगी और इस जिम्मेदारी को मैंने अक्षरशः निभाया भी। जब जरूरत पड़ जाती, अजमेर से अपने साथियों—महोदयजी, काशी-नाथजी त्रिवेदी, शङ्करलालजी वर्मा को भेजता व कभी-कभी मैं भी यहां से अनुवाद करके भेजता रहता था।

मैं १९२६ की जनवरी में अजमेर आया। जब मेरे मित्रों को यह मालूम हुआ कि मैं राजस्थान में जा रहा हूं व अजमेर रहूंगा, तो उन्होंने कस कर विरोध करना शुरू किया—खास कर अजमेर रहने के विषय में कुछ मित्रों ने तो भविष्य-वाणी भी कर दी कि वहां जाकर तुम कीचड़ में फंस जाओगे। ऐसी तू-तू, मैं-मैं में पड़ोगे कि सांस भी नहीं लेने पाओगे। वहां के पुराने नेताओं के रगड़े-झगड़ों का जिक्र करके कहते, वहां जाकर क्यों अपनी मट्टी पलीत करते हो? खुद जमनालालजी ने भी चेतावनी दी थी कि वहां की राजनैतिक दल-बंदियों में न पड़ जाना। लेकिन इन भयानक चित्रों का मुझ पर अगर कोई असर हुआ तो यह कि चलकर देखें तो आखिर क्या खतरा या भयानकता वहां है? मुझे अपने आप पर इस बात का काफी विश्वास था कि मैं चाहे कैसी भी कठिनाइयों में पड़ जाऊंगा, पर उनसे हारूं व दबूंगा हरगिज नहीं, व

सबमें से साफ-पाक निकल आऊंगा। इसका कारण यह था कि मैंने यहां के व दूसरी जगह के रगड़े-झगड़ों का सार यह निकाल रखा था कि नेतृत्व, धन व संस्थाओं पर कब्जा करने के लिए ये झगड़े होते हैं। अपन दृढ़ता-पूर्वक इन मोहों से बचेंगे व बच जावेंगे। एक स्त्रियों के सम्पर्क का प्रश्न भी होता है, जिसे लेकर लोग टीका-टिप्पणी, निन्दा व बदनामी करके गिराने का प्रयत्न कर सकते हैं। अतः मैं निश्चय करके चला कि नेतृत्व की होड़ में अपन कभी खड़े न रहेंगे। रुपये जो लावेंगे उन्हें संस्थाओं में जमा करावेंगे, जहां उनका पूरा हिसाब रहेगा, जो खुद खर्च करेंगे उसके पाई-पाई का हिसाब रखेंगे, अपना पैसा भले संस्था में खर्च हो जाय, पर संस्था का पैसा अपने घर-खर्च में न लगने पावे। संस्थाओं पर कब्जा करने का लोभ तो दूर, जहां उसमें दूसरे लोग भार उठाने को तैयार हुए नहीं कि अपन खुद उसमें से हट जाया करेंगे और स्त्रियों से काम-पुरता सम्बन्ध रखेंगे। काम होगा तो उनसे बोलने व अकेले में मिलने में भी संकोच न करेंगे, न होगा तो चार आदमियों में भी मिलने व बातचीत करने की जरूरत न रखेंगे। मैंने इन निश्चयों को भरसक पालने का यत्न किया है, और यही कारण है कि मैं यहां के राजनैतिक जीवन में आकण्ठ डूबकर भी अभी तक इज्जत के साथ जी रहा हूं—अनुभव-हीनता से कुछ धक्के जरूर लगे, कटु अनुभव भी हुए; परन्तु एकाध बार को छोड़कर मुझे कभी अजमेर आने का अफसोस नहीं हुआ। हालांकि ऐसे मित्र हैं जो मानते हैं कि अजमेर में रहकर मैंने अपनी जवानी बरबाद कर दी, व्यर्थ ही अपनी मिट्टी पलीद करा रहा हूं, परन्तु मुझे अभी तक ऐसा नहीं लग रहा है कि मैंने कोई नैतिक दोष किया है, या अजमेर आना कोई व्यावहारिक भूल भी है। यों अधिक भावुक व आदर्शवादी होने तथा कम अनुभव के कारण मुझसे व्यावहारिक भूलें जरूर हुई हैं, पर वे ऐसी नहीं कि जिनसे मुझे अजमेर में आने व रहने पर पछतावा करना पड़े।

: २२ :

तत्काल फल

निर्भयता व साहस यदि अहिंसा का एक पहलू है तो सहनशीलता, क्षमाशीलता, दयालुता दूसरा पहलू। दोनों परस्पर पूरक हैं। ऐसा अनुभव मुझे अपने न-कुछ जीवन में कई बार हुआ है। फतेहपुर की अग्रवाल महासभा के समय की एक घटना है। मैं अहमदाबाद से तीसरे पहर की एक्सप्रेस से रवाना हुआ। एक डिब्बा फौजियों से भरा होने के कारण पहले ही काफी भीड़ गाड़ी में हो गई थी। आबू के आसपास फौजी डिब्बे में किसी तरह आग लग गई तो रात में कोई १ बजे फौजियों को दूसरे डिब्बों में घुसेड़ा गया। मैं जिस डिब्बे में बैठा था उसमें बैठना भी मुश्किल से हो रहा था। मैं खिड़की के सहारे था। बगल वाले कंपार्टमेंट में घुसकर फौजी वाहो-तबाहो बक रहे थे और मुसाफिर चिल्ल-पों मचा रहे थे। मुझसे न रहा गया। मैं उठकर दरवाजे की तरफ जा ही रहा था कि उधर से एक फौजी—वे सब काबुली थे—हमारे डिब्बे की तरफ घुसा। मेरे पास ही आगरे की तरफ के कुछ मुसलमान बैठे थे, उन्होंने दोनों पटरियों के बीच टांगें पसार दीं कि फौजी आगे न धंसने पावें। फौजी ने उठा के एक तमाचा एक मुसलमान के जड़ दिया। यह मुझे नागंवार हुआ। मैंने ज्यों ही फौजी को डांटना शुरू किया वह मेरी ओर लपका। इधर तमाचा पड़ते ही मुसलमानों ने टांगें समेट लीं। फौजी मेरी ओर बढ़ा व गरदनिया देकर मेरा सिर खिड़की के बाहर कर दिया। मेरे जी में तो आया कि गाड़ी की जंजीर खींच लूं, फिर सोचा कि देखें,

इसे सहन करें, क्या नतीजा होता है। इतने ही में उस फौजी के पीछे उनका कोई अफसर आया, व मेरी गर्दन पर उसका हाथ देखकर उसे डांटा व पिछले कमरे में वापस भेज दिया। यह कुछ पढ़ा-लिखा व सभ्य मालूम होता था। मुझसे कहने लगा—बाबा, हम लोग पठान हैं, बड़े जाहिल हैं, यह आदमी एक बिगड़े दिमाग है। आप कुछ खयाल न करें। मैंने कहा—मेरा तो उसूल ही बदला न लेने का है, लिहाजा मेरी बात छोड़ो, मगर उसने इन्हें—मुसलमान को—जो तमाचा मारा उसकी माजरत होनी चाहिए। इतने ही में वह फौजी फिर इस कमरे में घुसा व बोला—नहीं, ये लोग बदमाश हैं, जब मैं आने लगा तो टांगे फैला दीं, जब तमाचा पड़ा तो समेट लीं। क्यों इन्होंने मेरा रास्ता रोका? लेकिन इस बाबू-से—मेरी ओर इशारा करके जरूर माफी मांगूंगा—इन पर मैंने बिला वजह हमला किया, इन्होंने इन बदमाशों की तरफदारी की, इससे मुझे गुस्सा आ गया। व मेरे पास आकर माफी मांगने लगा। मैंने कहा—तुम्हें माफी इन लोगों से मांगनी चाहिए, कुसूर तुमने इनका किया है, मैं तो तुम्हारे हमले को भूल ही गया समझो। मेरे जी में तो आया था कि जंजीर खींच लूं, पर फिर जब्त करना ही अच्छा समझा। वह तन के बोला, नहीं इनसे हरगिज नहीं मांगूंगा, ये शरीफ नहीं मालूम होते।

अफसर भी थोड़ी देर मेरे पास ठहरा। काबुलियों की, उनमें भी फौजियों की जहालत के किस्से सुनाकर मेरी दिलजमई करता रहा। मुझसे यह भी जान लिया कि मैं महात्माजी के आश्रम में रहता हूं व फतेहपुर जा रहा हूं। पिछली रात को वह पहला फौजी फिर मेरे पास आया व कहने लगा—'बाबू, तुम हमको माफ नहीं करेगा।' मैंने फिर उन लोगों से माफी मांगने पर जोर दिया—पर उसने साफ नाहीं कर दिया। फुलेरा में जब मैं रींगस की गाड़ी में बैठ गया तो वह फौजी मुझे तलाश करता हुआ उस गाड़ी पर आया व फिर कहा 'बाबू, मुझे माफ नहीं करोगे?' मैंने उसे समझाया कि मैं तो तुमको माफी मांगने के पहले ही अपनी तरफ

से माफ कर चुका, लेकिन कुसूर तो तुमने दूसरे ही लोगों का किया है। पर मेरी यह बात उसकी समझ में नहीं ही बैठी। इस घटना ने मुझे अहिंसा के प्रयोग का जो तत्काल फल दिखलाया उस पर मैं मन-ही-मन मुग्ध हो रहा। पीछे मैंने भी मुसलमानों को डांटा कि तुममें उनका सामना करने की हिम्मत नहीं थी तो फिर पहले टांगें फैलाईं क्यों? और जब फैलाईं भी तो तमाचा पड़ने पर समेटीं क्यों? तमाचे के जवाब में तुम्हें कुछ तो मुकाबला करना था! तुममें न तो बरदाश्त की ताकत थी न मुकाबले की। यही वजह है जो उस फौजी ने तुमसे तो माफी नहीं मांगी, मगर मुझसे बार-बार मांगने आया।

शायद १९२२ में जमनालालजी सपरिवार आबू गये थे। काका साहब के साथ मैं भी दो-चार रोज के लिए वहां चला गया था। किसी कार्य-वश पूज्य मालवीयजी व श्री घनश्यामदासजी बिड़ला भी वहां आये व जमनालालजी के मेहमान हुए। हम सब श्रीराम-मन्दिर में ठहरे थे। पूज्य मालवीयजी के दर्शन तो मैं काशी वगैरा में दो-चार बार कर चुका था, पर प्रत्यक्ष परिचय का अवसर यह पहला ही था। बिड़लाजी को तो देखा भी यहां पहली बार ही। पूज्य बापूजी अपेंडिसाइटिस के आपरेशन के बाद जब जुहू (बम्बई) में विश्राम कर रहे थे तब श्री घनश्यामदासजी वहां आया-जाया करते थे व विचित्र प्रश्न पूछा करते थे। महादेवभाई ने एक बार मुझसे कहा था कि एक अजीब आदमी बापू के पास आता है और बड़े अद्भुत प्रश्न करता है। बड़ा साहसी व स्पष्टवक्ता मालूम होता है। बापू भी वैसे ही अनोखे जवाब देते हैं। मारवाड़ी बड़ा धनिक है, बिड़लों का नाम तो तुमने सुना होगा। उन्हीं में से है। आबू में जब पहिली बार उनकी विशाल आंखें व लम्बा डील-डौल देखा तो मेरा आकर्षण बढ़ा। बाद में उन्होंने महात्माजी-सम्बन्धी अपने विचार व प्रश्नोत्तर भी सुनाये तो समझा कि महादेवभाई वाला 'अजीब' आदमी यही है। मैंने देखा कि उन्हें भी मेरे प्रति आकर्षण हुआ।

पूज्य मालवीयजी की कुछ चिट्ठियां लिखने का भी सौभाग्य वहां

मिला। जमनालालजी की तो लिखता ही था। जमनालालजी का मुझ-पर इतना अधिकार होगया था कि जब कभी कोई सहायक उनके पास नहीं होता तो बे-तकल्लुफ होकर वे मुझे पकड़ लिया करते, व मुझे भी उनकी ऐसी सेवा करने में सुख ही अनुभव होता था।

पूज्य मालवीयजी ने मुझे सुझाया—तुम मेरे पास क्यों नहीं रहते? जैसे गांधीजी के पास महादेवभाई हैं, वैसे मैं भी अपने पास किसी को रखना चाहता हूं। पर कोई ऐसा मिलता नहीं। तुम्हारा काम व स्वभाव मुझे पसन्द आता है।' मैंने मन में गौरव अनुभव किया। फिर बड़े संकोच से बोला—महाराज, आपकी आज्ञा तो मुझे शिरोधार्य होती; पर मैं 'हिन्दी-नवजीवन' के लिए बापूजी को वचन देकर निश्चिन्त कर चुका हूं, नहीं तो मैं इसे बड़ा सौभाग्य ही समझता।

घनश्यामदासजी से तो एक-दो दिन में ही काफी घुल-मिल गया। उनकी प्रतिभा, तीव्र आलोचना व अवलोकन-शक्ति का काफी प्रभाव पड़ा। उनके चेहरे पर जहां एक धनिक का रौब था, वहां उनकी आंखों में स्नेह, सहानुभूति व सुशीलता भी देखी।

इस समय हमारे साहस की एक घटना लिखने योग्य है। हम प्रायः रोज हाथ-मुंह धोने नक्की तालाब के पश्चिमी किनारे पर जाया करते। उधर एक गहरा नाला नीचे अनादरा की ओर जाता था। ऊपर से अना-दरा पाइंट से नीचे का बड़ा मनोहरी दृश्य दीखता था वे। हमारे खासकर कमल[1] के मन में नीचे जाकर देखने के भाव उभाड़ा करते थे। कमल उस समय ८ साल का था। एक रोज सुबह जब उधर शौचादि के लिए गये तो उसने कहा—आज इस नाले में जरा नीचे धंसें। हम उतरते ही चले गये। कमल जरा भी न डरता था, न हिचकता था। उसका साहस देख मुझे आनन्द होता था। मेरा खयाल है, कोई आधी दूर हम उतर गये होंगे। ज्यों-ज्यों नीचे जाते थे नाला गहरा व भयानक होता जाता

१—श्री कमलनयन बजाज, स्व० जमनालालजी के बड़े पुत्र।

था। झाड़ी भी काफी सघन। उतार बहुत कठिन, कहीं-कहीं तो हम पेड़ों की जड़ों पर लटककर उतरते। मुझे आशंका होने लगी कि कहीं भालू शेर आदि से पाला न पड़ जाय। कमल की वजह से और भी चिंता हुई। पर कमल जरा भी नहीं घबराया। आखिर मेरे जोर देने पर हम दोनों सड़क पर आगये, जो नीचे अनादरा की ओर जाती थी। कमल आगे बढ़ने के लिए इशारा करता जाता था। हम आधे से अधिक उतर गये। लगभग १० बज गये। तब सोचा कि यों भी ऊपर पहुंचते १२ बज जायंगे, चढ़ाई में थकान भी काफी आवेगी; अतः अनादरा ही क्यों चलें? भाईजी (जमनालालजी) तो मेरे साथ रहने से निश्चिन्त जैसे थे। पास हमारे सिर्फ एक घिसा पैसा था। हाथ में शायद १ लोटा, बदन पर एक बनियान या कुरता, नंगे सिर। सोचा—चलो देखो, क्या अनुभव होता है? इस नये प्रयोग ने ललचाया व हम नीचे की ओर बढ़ चले। अनादरा ऊपर से तो आबू की तलहटी में ही देख पड़ता था, परन्तु ज्यों-ज्यों हम नीचे उसकी ओर बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों वह तलहटी से दूर भागता जाता था। आखिर १२-१ बजे हमने उसे पकड़ लिया। दोनों थक कर चूर हो गये। मगर कमल ने जरा भी बेचैनी या परेशानी नहीं दिखाई। गांव में ऐसे सज्जन मिले जो जमनालालजी को व 'हिन्दी-नवजीवन' को भी जानते थे। उनके यहां देहाती खाना खा-पी कर शाम को हम आबू लौटे। कमल की थकान का खयाल करके मैंने चाहा कि अब कल चलेंगे। हालांकि यह बोझ भी दिमाग पर था ही कि दिन-भर गायब रहने से भाईजी चिन्ता करेंगे। अतः कमल ने आग्रह किया कि आज ही चलेंगे। आखिर हम शाम को जब आबू पहुंचे तो जमनालालजी हमारी तलाश में आदमियों को भेजने की तैयारी कर रहे थे। हमारे इस साहस से वे प्रसन्न ही हुए। कमल की निडरता व साहस की अच्छी छाप मुझ पर पड़ी।

: २३ :

अहिंसा का मर्म

अहिंसा विकास की वस्तु है, दलील की नहीं। अहिंसा का मर्म है हृदय को मृदुल बनाना, अपने लिए नहीं दूसरों के लिए। दूसरों के प्रति, भले ही वे हमारे शत्रु-कोटि के क्यों न हों, अपने सब व्यवहारों में मृदुल रहना अहिंसा का लक्षण है। उनके दुष्कार्यों, अवगुणों का प्रतिकार भी किया जायगा तो मृदुलता से प्रेरित होकर; उनके प्रहारों को तो हम चट्टान की तरह सहेंगे, पर उनपर चोट करते समय अपने हृदय को फूल से भी अधिक मृदुल बना लेंगे। वे विष-बुझे बाण भले ही फेंकें पर हम तो पुष्प के ही बाणों से उनकी अन्तरात्मा को जाग्रत करेंगे। इसका आनन्द दलीलों से नहीं समझाया जा सकता। बच्चा जैसे मां के प्रेम को उसकी आंखों में समझ लेता है, उसी तरह अहिंसा का यह आनन्द उसके साधकों को कदम-कदम पर अनुभव होता है। जिन्हें वह अपने से दूर, अपना विरोधी, महा हठी मानता था, वे भी सरल स्वभाव से उसके सामने अपना हृदय खोलकर रख देते हैं। जो चट्टान-सी दीखती है, वह झरना बन के सामने आ जाता है। ऐसा एक अनुभव अजमेर आते ही हुआ।

मेरे राजस्थान में आने से पहले सस्ता साहित्य मण्डल की स्थापना हो चुकी थी। अजमेर में उसका कार्यालय रखना स्थिर हुआ। साधारण

देख-भाल मेरे जिम्मे हुई। इधर चर्खा-संघ की राजस्थान शाखा को अधिक ठित करने की दृष्टि से भी देशपांडेजी उसके मन्त्री बनकर आ चुके थे; मेरी नियुक्ति इसी शाखा के प्रचार-मन्त्री के रूप में हुई। देशपांडेजी इस प्रांत के लिए बिलकुल नये थे। हिंदी-भाषा भी अच्छी तरह नहीं जानते थे। परन्तु खादी-कार्य के अनुभवी थे। श्री लक्ष्मीदासभाई की देख-रेख में गुजरात में खादी-कार्य के संगठन का उन्हें अनुभव था।

थोड़े ही दिनों में—यह १६२६ की बात है—महात्माजी का एक पत्र मुझे मिला, जिसमें उन्होंने एक खादी-केन्द्र के कार्यकर्त्ता-सम्बन्धी शिकायतों की जांच का काम मुझे सौंपा। शिकायतें नैतिक स्वरूप की थीं। कार्यकर्ता खादी-कार्य में तो दक्ष था, परन्तु अपने ढङ्ग का बेढब और बड़ा दबङ्ग था। देशपांडेजी ने व मैंने भी महसूस किया कि यह जांच का काम बड़ा मुश्किल है। उसने कुबूल न किया, व चार्ज भी न दिया तो क्या किया जायगा? ऐसी बातों का सबूत मिलना भी तो मुश्किल होता है। लेकिन मैं जानता था कि पूज्य बापूजी के प्रति उसकी बहुत श्रद्धा है व मुझे भी जानता-मानता था। अतः मुझे बीच-बीच में ऐसा लगता था कि सम्भव है इतनी कठिनाई न पेश आवे।

हम दोनों केन्द्र में पहुँचे तो वातावरण वैसा ही विकट पाया, जैसा कि खयाल किया था। एक से एक बढकर चक्कर में डालने वाली खबरें मिलीं। उसकी पत्नी ने उसे ज़हर देने का यत्न किया था। अतः वह उसके साथ एक ही थाली में भोजन करता था। हमें आशंका हुई कि ऐसी दशा में हम भी इस केन्द्र में कहां तक सुरक्षित हैं! खैर, पहले खादी-काम का निरीक्षण किया गया। बाद में मैंने एकांत में बुलाकर उस कार्यकर्त्ता से कहा—देखिए, हम लोग असल में तो एक दूसरे ही काम के लिए आये हुए हैं। आपके ख़िलाफ़ कुछ शिकायतें महात्माजी के पास पहुँची हैं और उन्होंने जांच के लिए मुझे लिखा है। आपका खादी-काम एक नम्बर का है, आप सच बोलने का दावा भी करते हैं।

अतः शिकायतों के मामले में भी आपसे सच्चे बयान की ही मुझे आशा है। यदि शिकायतें सच हों तो मुझे कहना होगा कि आप भटक गये हैं व बुरी तरह कीचड़ में फंस गए हैं। मेरी कोशिश होगी कि आपको उसमें से निकालूं।' मुझे आशंका तो यह थी कि सुनते ही वह मुझपर टूट पड़ेंगे और सम्भव है मेरा अपमान भी कर दें। परन्तु मुझे तो अपना कर्त्तव्य पूर्ण अहिंसात्मक पद्धति से–उसके प्रति अत्यन्त मृदुलता से—पूरा करना था। मैंने पूर्वोक्त बातें बहुत ही सहानुभूति के स्वर में कीं। उन्होंने मेरी ओर देखा और कहा—'बताइए, क्या शिकायतें हैं? कम-से-कम आपके सामने मैं झूठ नहीं बोलूंगा। मैं जानता हूं, आप मेरे हितैषी हैं।'

'हां, मैं आपका हित ही चाहता हूं और वह तभी साध सकूंगा, जब आप सब बातें सच-सच बता दें।'

उन्होंने सारे वाकयात सच-सच बयान कर दिये। मैंने कहा—'आप फंस तो बहुत गन्दगी में गये हैं, पर हैं अपनी बात के सच्चे। मैं आपकी मदद करूंगा। लेकिन आप यह तो अच्छी तरह जानते हैं कि यह खादी-काम कोरा व्यापार नहीं है। आप भी व्यापार के लिए यहां नहीं आये हैं। व्यापारी के बच्चे हैं, सैकड़ों रुपया कमा सकते हैं, लेकिन पूज्य बापूजी का काम, गरीबों की सेवा, आदि पवित्र भावनाओं से यहां आये हैं, तो यह क्या कर बैठे? इसमें चरखा-संघ की कितनी बदनामी है? बापू को कितनी चोट लगेगी? इसका खयाल कीजिए। सोचिए, ऐसी दशा में इस केन्द्र की जिम्मेदारी आप पर रखना कहां तक उचित है? अपनी यह दुकानदारी तो बापू के नाम पर चलती है। उनके नाम को तो हमें सदा उज्ज्वल ही रखना है। अतः आप इस केन्द्र का चार्ज देशपांडेजी को संभला दीजिए व पहले आत्म-शुद्धि का उपाय कीजिए।'

'आपका कहना ठीक है, मैं चार्ज दे दूंगा; मगर खादी के काम से मेरा बड़ा प्रेम है, इसे छोड़कर मैं कहां जाऊं?'

'मैं कोशिश करूंगा कि आपको बापूजी के आश्रम में भिजवाऊं। वहीं रहकर आप इसका प्रायश्चित्त और अपना उद्धार कर सकते हैं।'

उन्होंने चार्ज दे दिया। हमारा बोझ हल्का हो गया। हमें उनकी सरलता पर आश्चर्य भी हुआ। अब मैं जब कभी उस घटना पर विचार करता हूं तो हमारी अहिंसात्मक कार्य-शैली के सिवा इसका और कोई कारण नहीं मालूम होता। उनके सच बोलने का दावा भी एक हद तक इसका जिम्मेवार माना जा सकता है। जो हो; महात्माजी तो कहते ही हैं कि सत्य व अहिंसा एक सिक्के के दो पहलू हैं। इसे सत्य का प्रभाव कहिए या अहिंसा का—एक ही बात है। साधारण वातावरण से ऊपर उठे बिना ऐसा परिणाम सहसा उपलब्ध नहीं होता—यह निर्विवाद है।

लेकिन उस केन्द्र में जो वातावरण बिगड़ गया था उसे ठीक करने में २-३ मास लगे। खुद मुझे एक-दो महीने लगातार रहना-पड़ा। इसमें भी हम लोगों की अहिंसा-वृत्ति बहुत काम आई। जिसे लोग कार्य-कुशलता कहते हैं, वह अहिंसा की ही उपज होती है। दूसरों से अपना काम बना लेने वाला, दूसरों को अपने मत के अनुकूल कर लेने वाला, अपने कामों को, बिना नुकसान उठाये, चला ले जाने वाला व्यक्ति अक्सर कार्य-कुशल कहा जाता है। एक कुशलता वह होती है जिसमें आदमी दूसरों को दम-झांसा देकर, सब्ज बाग दिखाकर, अपना काम बना लेता है; लेकिन थोड़े ही दिनों में इसकी कलई खुल जाती है। दूसरी व सच्ची कुशलता हृदय की शुद्धता व मृदुलता से उत्पन्न होती है, दूसरों की भावनाओं, सुविधाओं का अज़हद खयाल जब रखा जाता है, तो उनकी वृत्तियां अपने-आप हमारे अनुकूल होने लगती हैं और वे जान वा अनजान में—चाहे अनचाहे—हमारे सहायक बनते जाते हैं। यह सच्ची कुशलता है, और यही अहिंसा है।

हमने महसूस किया कि गांव वालों की भावनाओं को आघात पहुंचा है। खान-पान, आचार-विचार सबमें उन कार्यकर्त्ता ने कोई मर्यादा नहीं रखी थी। अछूतपन मिटाने, जात-पांत तोड़ने, खान-पान, रोटी-बेटी-व्यवहार की संकुचितता तोड़ने, का यह अर्थ नहीं है कि इनमें किसी प्रकार की सीमा या नियम ही न रखा जाय। चाहे जैसा बरतन हो, पानी

पिया जाय; चाहे जिसके हाथ का बना खाना हो, आंख मूंदे खा लिया जाय, चाहे जिसकी लड़की हो, शादी-सगाई कर ली जाय, या यों ही दाम्पत्य-सम्बन्ध कायम कर लिया जाय। इसका समर्थन कोई भी विचारशील व जिम्मेदार व्यक्ति नहीं करेगा। हमने गांव के लोगों को अपना यह विवेक व भेद समझाना शुरू किया। उन्होंने गांव में एलान कर दिया था कि कोई खादी वालों को अपने कुएं से पानी न भरने दे। हमने इस एलान को मान दिया व गांव से बहुत दूर एक कुएं से पानी लाने व वहीं नहाने-धोने लगे। इसके लिए गांव के मुखियाओं की हमने कोई टीका-टिप्पणी नहीं की। सोचा कि हमारे उपदेश से नहीं, बल्कि हमारे आचार-व्यवहार से ही इनकी मनोवृत्तियां बदलेंगी। नित्य सुबह उठकर हम लोग—ओमदत्तजी शास्त्री, मदनलालजी खेतान, व शायद मूलचन्दजी अग्रवाल भी—दूर एक बगीची में नहाने जाते, नियमित प्रार्थना व व्यायामादि करते। गांव के कुछ भले व प्रतिष्ठित ब्राह्मण-बनिये भी वहां आया करते थे। हमारे इस कार्यक्रम का उन पर अच्छा असर पड़ा व हमसे कुछ बातचीत—चर्चा भी होने लगती। तब हम उन्हें धीरे-धीरे अपना दृष्टि-बिन्दु समझाते, और सब बातें तो उनकी समझ में आ जाती थीं, मगर छुआछूत मिटाने की बात उनके गले नहीं उतरती थी। धीरे-धीरे वातावरण बदलने लगा। गांव के लोगों में ही अब दो दल होगये—एक हमारा तरफदार, दूसरा विरोधी। तब हमने गांव के मन्दिर में शाम की प्रार्थना करनी शुरू की, जो अब तक अपने खादी-आश्रम में किया करते थे। इसके साथ ही रामायण व गीता की कथा भी मैंने शुरू की। इसमें दोनों प्रकार के लोग आते थे, हमारे माफिक भी व खिलाफ भी। मैं प्रसंगानुसार सार्वजनिक विवादों की चर्चा भी इसमें करता। एक रोज अछूतपन की समस्या मैंने छेड़ी। देहात के लोगों के समझने योग्य दलीलें ही देनी पड़ती थीं। तत्त्व-चर्चा भी करता था। मैंने कहा—'मैंने सुना है, गांव में लोग चर्चा करते हैं कि पंडितजी व उनके आदमी हैं तो

चोखे; पर बलाइयों व भंगी-चमारों से छूते हैं, यह बात बेजा करते हैं। इनकी सब बातें अच्छी हैं, एक यही बुरी बात है। सो, अब यह आप ही के सोचने की बात है कि जब हम सब बातों में अच्छे हैं तो एक विषय में हमारी बुद्धि क्यों बिगड़ गई ? अब यह हमारी समझ का फेर है या आपकी समझ में कमी है, इसका विचार कीजिए। इसका जवाब तो उनसे नहीं बन पड़ता था, वे निरुत्तर हो जाते थे। पर पिछले संस्कार बड़े दृढ़ होते हैं। गले उतर जाने पर भी तदनुसार व्यवहार करना बड़ा कठिन होता है। यह धीरज व निरन्तर अभ्यास से ही हो सकता है।

कभी-कभी कुछ मनचले लोग लड़कों को सिखाकर भी भेजते और वे टेढ़े-मेढ़े सवाल पूछकर मुझे विषम स्थिति में डालने का यत्न करते। एक रोज एक लड़के ने सवाल किया—पण्डितजी, आप हनूमानजी को बन्दर मानते हैं या देवता ? यह प्रश्न मुझे आर्यसमाजी साबित करने के लिए पूछा गया होगा—ऐसा मुझे लगा। मैंने कहा—'इस सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग उन्हें जंगली मनुष्य मानते हैं और कुछ भगवान् के भक्त। जो बुद्धिवादी हैं वे कहते हैं कि बन्दर मनुष्य की तरह सब काम नहीं कर सकता। अतः वे जंगली या अर्द्ध जंगली वानर जाति के थे। जो भक्त व श्रद्धावादी हैं वे उन्हें भगवान् रामचन्द्रजी का सेवक व भक्त मानकर देवता समझते हैं।' तब प्रश्न हुआ—'लेकिन आप क्या मानते हैं ?'

'मेरी बुद्धि उन्हें मनुष्य व श्रद्धा उन्हें देवता मानती है—अतः जब श्रद्धा-भक्ति उमड़ती है तो बन्दर तो ठीक, यदि कुत्ता भी हो और वह भगवान् का भक्त हो तो मेरे लिए पूजनीय है, जो भगवान् का भक्त है उसके लिए मैं यह सोचना ही नहीं चाहता कि वह मनुष्य है, कुत्ता या बन्दर है, या चाण्डाल है। मुझे तो उसके चरणों में अपना सीस नवाने में ही आनन्द आता है।'

इस पर वे निरुत्तर हो गए। गांव में चर्चा फैल गई कि पंडितजी

बड़े विद्वान् हैं। पक्के सनातन-धर्मी हैं। इन लोगों के आचार-विचार बड़े ऊंचे हैं। अब वातावरण हमारे बहुत-कुछ अनुकूल हो गया। हरिजनों की बस्ती में एक पाठशाला भी खादी-आश्रम की ओर से खोली गई— धीरे-धीरे उसमें सवर्णों के बालक भी आने लगे।

: २४ :

मजदूरों में अहिंसा

इसी साल इंदौर के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। तमाम मिलों के कोई दस-बारह हजार मजदूर आम हड़ताल पर थे। बोनस के सवाल को लेकर हड़ताल शुरू हुई थी। पर बाद में घण्टे का सवाल भी जोड़ दिया गया था। उन दिनों इंदौर-राज्य में मजदूरों के काम के घण्टे नियत नहीं थे। १३-१४ घण्टे तक भी उन्हें कारखानों में काम करना पड़ता था। हड़ताल स्थानिक कार्यकर्त्ताओं के प्रोत्साहन से चल रही थी, लेकिन मालिक व रियासत दोनों झुकने के लिए तैयार न थे। बोनस की मांग मालिकों से व घण्टों की रियासत से सम्बन्ध रखती थी। मजदूरों के कुछ प्रतिनिधि श्रीमती अनसूया बहन के पास अहमदाबाद सहायता के लिए पहुंचे। वे वहां की प्रसिद्ध मजूर-महाजन की अध्यक्ष थीं। उन्होंने व श्री शंकरलालजी बैङ्कर ने—जो मजूर-महाजन के पथ-दर्शक थे—महात्माजी से सलाह की। रियासत का मामला था। एहतियात से काम लेना था। महात्माजी रियासत वालों से सीधी टक्कर नहीं चाहते थे। सबने मिलकर तय किया कि हरिभाऊ इंदौर की तरफ का है, उसे वहां भेजना चाहिए। रियासती अधिकारियों से भी उसके अच्छे ताल्लुकात हैं और वह संजीदा भी है। चुनांचे शंकरलालभाई ने पूज्य बापू के हवाले से मुझे लिखा कि—इंदौर जाकर मजदूरों की मदद करो। मैं तत्त्वतः मजदूरों के प्रश्नों को समझता था, महात्माजी के तत्संबन्धी विचारों को जानता था; परन्तु मजदूरों की हड़ताल में कभी काम नहीं किया था—इससे जी हिचका तो,

परन्तु नवीन साहस का मुझे शौक रहता है, अतः चल दिया कि देखें, इसमें क्या अनुभव होता है। ऐसा याद पड़ता है कि इंदौर वाले मजदूरों में से कोई अहमदाबाद से मुझे लेने आया था। मैंने उससे वहां की सारी परिस्थिति समझ ली। महात्माजी की हिदायत थी कि पहले प्रधान मंत्री से मिलना व फिर मजदूरों में कार्य करना, व मुझे रिपोर्ट देते रहना, कोई बात कठिन व उलटी मालूम पड़े तो मुझसे मिलने आ जाना।

जाकर मैंने देखा तो मिलें तमाम बंद, मजदूर गोल बांध-बांधकर व कहीं-कहीं लाठियां ले-लेकर सड़कों व बाजारों में घूम रहे थे। यह भी सुना कि जाल साहब—हुकमचन्द मिल्स के मैनेजिंग डायरेक्टर—की नाक काट लेने की फिराक में थे। श्री मित्तल साहब—उस समय शायद महकमे कानून के बड़े अफसर—की मोटर घेर ली गई थी, सो उन्होंने घर से बाहर निकलना छोड़ दिया था। १-२ दिन पहले ही ४००-५०० मजदूर सर हुकमचंदजी की हवेली पर जा पहुंचे व उन्हें बुरी गालियां देकर उनके मकान के कांच वगैरा तोड़-फोड़ डाले। अनाज के व्यापारियों व मंडियों को आये दिन यह अंदेशा रहने लगा कि बाजार अब लुटा। चीफ मिनिस्टर के दफ्तर, कोठी, जिधर देखो मजदूरों का दल ठट बांधकर खड़ा व घूमता दिखाई पड़ता। एक ओर बाजार के व्यापारी, दूसरी ओर सरकारी अफसर व पुलिस परेशान थी, तो तीसरी ओर मिल-मालिक चिंताग्रस्त। मजदूर यों असंगठित थे, पर हड़ताल के मामले में पक्के दिखाई दिये। इस विकट परिस्थिति में मुझ नौसिखिये को काम करना था। मैंने तुरंत समझ लिया कि इसमें सफलता की कुंजी अहिंसा व मजदूरों की आपसी एकता है। एकता की महिमा तो वे समझते थे, पर अहिंसा की महत्ता समझना बाकी था। मैंने इसी की शुरुआत की।

सबसे पहले मैं (अब सर) श्री बापना—चीफ मिनिस्टर—से मिला। क्यों कि जबतक उन्हें विश्वास न हो कि काम जिम्मेदारी व सचाई से होगा तबतक वहां किसी काम की शुरूआत ही नहीं हो सकती थी। वे मुझे

बखूबी जानते थे। मैंने उनसे कहा—महात्माजी का भेजा मैं मजदूरों की सहायता के लिए यहां आया हूं। उन्हींकी पद्धति व सलाह से काम करूंगा। यदि आपको इसमें आपत्ति हो तो मैं लौट जाऊंगा। आपकी इजाज़त ही नहीं, सहायता भी इसको निपटाने के लिए प्राप्त करना चाहता हूं।

'बड़ा अच्छा किया जो आप आ गये। आपको हम जानते हैं, विश्वास से बात कर सकते हैं। यहां इनका कोई एक नेता नहीं। एक से बात करते हैं, वह कुछ तय कर जाते हैं तो दूसरे उनका प्रतिवाद कर देते हैं। ऐसी हालत में समझ में नहीं आता कि बात इनकी कैसे की जाय, व किनसे की जाय। अब आप आ गये हैं तो मुझे भी आशा है कि रास्ता जल्दी निकल जायगा। मैं तो आपका स्वागत ही करता हूं।' फिर मजदूरों के रवैये की शिकायत करने लगे। कहा—'सरदार किबे इस महकमे के मिनिस्टर हैं, आप उनसे भी मिल लीजिए।'

मैंने उन्हें बहुत धन्यवाद दिया व आश्वासन दिलाया कि मजदूरों को शांति की ओर ले जाना मेरा कर्तव्य ही है। रियासत के खातिर नहीं, मजदूरों के अपने हित के लिए। सरदार किबे ने भी बहुत सहानुभूति दिखाई व मेरे आ जाने पर खुशी जाहिर की।

अब मैंने मजदूरों को शांति, अनुशासन व संगठन की राह पर लाने का उपाय किया। उनके कुछ अगुवों को बुलाया। उनसे कहा—'आप लोगों ने अहमदाबाद से एक आदमी मांगा था, महात्माजी ने मुझे आपकी खिदमत के लिए भेजा है। मेरा फर्ज होगा कि जी-जान लड़ाकर आपकी मदद करूं व हड़ताल को कामयाबी पर पहुंचा दूं। लेकिन यह आपकी मदद के बगैर नहीं हो सकता। आप ही का काम है, लिहाजा आप तो मदद करेंगे ही—पर आपको यह समझ लेना चाहिए कि वह मदद किस तरह की होनी चाहिए। अपनी असली लड़ाई मिल-मालिकों से है। घण्टों का सवाल रियासत से जरूर ताल्लुक रखता है, मगर जब कि ब्रिटिश इण्डिया में १० घण्टे हो गए हैं तो इन्हें भी लाजिमी तौर

पर कर देने होंगे। इसमें अपनेको ज्यादा दिक्कत न होगी। मगर मालिकों की तरफ से तो इसका भी विरोध हो रहा है। अतः असली लड़ाई स्टेट से नहीं, मालिकों से है, यह समझ लेना चाहिए। अतः अगर मालिकों को हराना है तो हमें अपना पक्ष मजबूत बनाना चाहिए। अभी तो शहर में हमारा तरफदार कोई भी नहीं है। मालिकों से तो झगड़ा ही है, पुलिस को मजदूरों की तरफ से मार-पीट हो जाने का अन्देशा है, इस-लिए रियासत के अफसर भी हमारा साथ नहीं दे रहे हैं। बाजारों के लूटे जाने की अफवाह आये दिन गर्म रहती है, अतः शहरियों की भी हमदर्दी हमारे साथ नहीं है, हम अकेले अपने बल-बूते पर ही लड़ रहे हैं। शहर की सारी ताकत मालिकों के साथ हो गई है, हालांकि हमदर्दी लोगों की ज्यादातर मजूरों के साथ है। हमें यह हालत बदलनी होगी व रियासत तथा शहरी लोगों को अपनी तरफ खींचना होगा। यह मसल-हत आप लोगों को वाजिब मालूम होती है या नहीं?'

'यह पहलू तो अभी तक हमारे ध्यान में ही नहीं आया था।'

'अभी तो और भी कुछ बातें आप लोगों को समझनी होंगी, तब हमें पूरी कामयाबी मिलेगी। अगर यह पहलू आपको जंचता हो तो सबसे पहले हमें शहरियों की यह चिन्ता मिटा देनी चाहिए कि दंगा हो जायगा, या बाजार लूट लिया जायगा। हम दिखा दें कि मजदूर कोई चोर, डाकू, लुटेरा, गुण्डा नहीं होता। वह अपने खरे पसीने की कमाई खाता है। इसके लिए मजदूर लोग ऐसी बातें कहना छोड़ दें जिनसे लोगों को ऐसा अन्देशा होता है। तभी लोगों की हमदर्दी हमारी तरफ बढ़ेगी।

'फिर मजदूर जो अब भी सड़कों पर व बाजारों आदि में गोल बांध-कर घूमते हैं, उसकी क्या जरूरत है? आप लोग शायद समझते होंगे कि इस तरह आतंक फैलने से समझौता जल्दी हो जायगा। लेकिन इससे हमारा पक्ष उल्टा कमजोर होता है। अबतक तो आपका कोई पैरोकार नहीं था, अतः आप लोग जैसा जंच जाता था कर गुजरते थे, अब

आपके लिए लड़ने को महात्माजी ने मुझे भेज दिया है। अब आप शांति से घर में अपने बाल-बच्चों के साथ रहिए। जब जरूरत होगी तो सभा बुला लेंगे। यों भी आपको बाल-बच्चों के साथ रहने का मौका बहुत ही कम पड़ता है। ईश्वर की दया से यह हड़ताल का मौका मिल गया है तो इसे इधर-उधर घूम कर क्यों गंवाते हैं? आप लोग एक-दो दिन के अन्दर ही शहर में यह हालत पैदा कर दीजिए कि चारों तरफ मजदूरों की वाह-वाह होने लगे।

'अब इस लड़ाई में महात्माजी का एक उसूल आपको और अच्छी तरह समझ लेना होगा। वह है शान्ति का। अगर आप शान्ति के रास्ते पर चलना मंजूर करेंगे तो तभी महात्माजी की ताकत हमें मिल सकेगी, व तभी मैं भी कुछ काम कर सकूंगा। वरना सब बेकार होगा। रियासत भी तभी हमारी तरफदार बनेगी। जहां हमारी तरफ से कुछ भी मार-पीट या दंगा-फसाद होगया तो सरकार व पुलिस की बन आवेगी व मालिक लोग हजार गुना मजबूत हो जायंगे। महात्माजी भी हमें ही कसूरवार ठहरावेंगे। इसलिए यदि आप अपने घरों में शांत होकर बैठ जायेंगे तो बहुत-सी उलझनें एक साथ ही सुलझ जायंगी व मैं शेर की तरह आप लोगों की तरफ से लड़ सकूंगा।'

यह सलाह मजदूरों को जंच गई व वे एक-दो दिन में ही अपने-अपने घरों में रहने लग गये। श्री बापना साहब ने मुझे एक दिन कहा कि टेलर साहब (तत्कालीन पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल) आपकी तारीफ करते थे कि उन्होंने आते ही मजदूरों को खूब काबू में कर लिया। अब शहर में दंगे-फिसाद या लूट-मार का कोई अंदेशा नहीं रह गया है।

'यह तो मुझे मजदूरों के हित में करना ही था—मुझे खुशी है, अगर इससे पुलिस को व आपको सन्तोष हुआ हो।'

अब मैंने मजदूरों को एक कदम और आगे ले जाना चाहा। यह बड़ी कड़वी गोली थी और मुझे अंदेशा ही था कि मजूर लोग कहां तक इसे गले के नीचे उतार सकेंगे। परन्तु परमात्मा ने यहां भी सहायता की।

सरकारी अधिकारियों की, शहरियों की सहानुभूति प्राप्त करके अब मुझे मालिकों से मिलने व समझौते की बातें करने का रास्ता खोलना था। वह तभी हो सकता था जब मैं पहले कोई ऐसा काम करूं जिससे मालिकों को मेरी सद्भावना का यकीन हो। अधिकांश मुझे जानते जरूर थे, लेकिन मैं तो इस समय मजदूरों का तरफदार और इसलिए उनके हितों का विरोधी (?) जो था। इसके लिए मैंने सर हुकमचन्दजी के घर जाकर उस गाली-गुफ्ता कर आने वाली घटना से लाभ उठाना उचित समझा।

मैंने मजदूरों के चुने हुए नेताओं को एक जगह बुलाया। उनसे मैंने पूछा कि हम जो लड़ाई लड़ रहे हैं यह शरीफाना ढंग से हो या गंवारू ढंग से? मजदूरों की इज्जत किस तरह की लड़ाई से बढ़ सकती है? लड़ाई हमारी बोनस की व घण्टों की है, हड़ताल उसमें हमारा सबसे बड़ा व अच्छा हथियार है। गाली-गुफ्ता व मार-धाड़ से क्या हमारी इज्जत दुनिया के सामने बढ़ सकती है? मैं यह चाहता हूं कि खुद हमारे दुश्मन भी—मालिक लोग भी—महसूस करने लगें कि मजदूर हमसे भी ज्यादा शरीफ होते हैं। ऐसा नतीजा निकले तो आप लोगों को अच्छा लगेगा न?

'लगेगा तो जरूर; पर यह होगा कैसे?'

'इसका रास्ता मैं आप लोगों को बताऊंगा। अभी २-४ रोज पहले कुछ मजदूर हुकमचन्दजी के यहां गाली-गुफ्ता कर आये व उनके घर के कांच तोड़-फोड़ आये। इससे उनकी इज्जत लोगों की निगाह में गिरी है। वे समझने लगे हैं कि मजदूर तो गुण्डों की टोली हैं। जो खरे पसीने की कमाई खाते हैं—१२-१४ घण्टे सख्त मेहनत की रोटी खाते हैं, वे जरा-सी बात में 'गुण्डे' कहलाने लग गये। इसकी रोक-थाम हमें अभी से कर लेनी चाहिए। हमारी लड़ाई लम्बी चल सकती है और ऐसे हर मौके पर हमें यही साबित कर देना है कि मजदूर मालिकों से कम शरीफ नहीं हैं। लिहाजा मेरी तजवीज तो यह है कि आप लोग मजदूरों की तरफ से सेठ हुकमचन्दजी से मिलें।'

'साहब हम लोग मिलेंगे तो मजदूरों को शक न होगा कि मालिकों से क्यों मिले ?'

'नहीं, आप मेरी चिट्ठी के साथ उनसे मिलिये। तब ऐसे शुबह की गुंजायश नहीं रहेगी।'

'और क्या कहें उनसे ?'

'मैं चिट्ठी लिख दूंगा, आपको कुछ ज्यादा न कहना होगा। सिर्फ इतना ही कह दीजिएगा कि उस रोज मजदूरों ने जो गाली-गुफ्ता किया, उस पर हम लोगों को बड़ा अफसोस हो रहा है। हम आपसे रजीलों की नहीं, शरीफों की लड़ाई लड़ना चाहते हैं।'

'तो इससे मालिक यह न समझेंगे कि हमारी खुशामद करने आये हैं।'

'पहले तो अपने दिल पर हाथ रखकर देखो कि क्या सचमुच खुशामद करने जा रहे हो। यदि नहीं तो फिर उन्हें जी चाहे सो समझने दो। जब तक हमारी हड़ताल जारी है कोई यह नहीं मान सकता कि हम किसी की खुशामद करने जा रहे हैं। हम सिर्फ एक गलती को ठीक कर रहे हैं, जिससे मजदूरों की इज्जत व ताकत बढ़ेगी व उनकी गिनती शरीफों में होने लगेगी।'

कुछ और समझाने के बाद वे राजी हो गये। मैंने सेठ हुकमचन्दजी के नाम एक पत्र इस आशय का लिखा—

"आपने सुना ही होगा कि मैं महात्माजी के आदेश से मजदूरों में काम करने के लिए यहां आया हूं। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ मजदूर आपके यहां जाकर गाली-गुफ्ता कर आये व कांच भी तोड़-फोड़ डाले। उनका यह काम महात्माजी के बताये अहिंसा के तरीके के खिलाफ था। मैंने उनके नेताओं से बातचीत की तो उनकी भी यही राय होती है कि यह अच्छा नहीं हुआ। मजदूर शरीफों की लड़ाई आपसे लड़ना चाहते हैं, अतः ये लोग उस घटना पर खेद प्रकाशित

करने के लिए आपके पास आ रहे हैं। आशा है, आप इन्हें उस दिन के कार्य के लिए माफी देने की कृपा करेंगे।''

मजदूर-नेताओं ने मुझे लौटकर रिपोर्ट दी कि पत्र पढ़ते ही सेठजी ने हमें गले लगा लिया और कहा—आप लोग तो मेरे बेटा-बेटी हो। मैं तो उस बात को उसी दिन भूल गया। मुझे भी पत्र का जवाब दिया—'मजदूर तो मेरे बेटा-बेटी हैं। मैंने उसी दिन उन्हें क्षमा कर दिया था। आपके इस पत्र के लिए धन्यवाद।'

अब मालिकों से समझौते की बातचीत का रास्ता खुल गया।

: २५ :

मालिकों पर असर

मजदूरों की इस अहिंसा का प्रभाव मालिकों पर स्पष्ट दीखने लगा। घण्टों के बारे में तो राज्य ने फैसला कर दिया। १० घण्टे रोज मिल चलने का आर्डर निकल गया। बोनस देने के लिए मालिक लोग राजी हो रहे थे; मगर उन्होंने यह पख लगाई कि घण्टे यदि कम किये जाते हैं तो मजदूरी भी कम होनी चाहिए। समझौते की बातचीत के दरमियान वे नफा-नुक्सान, मजदूरी, रेट आदि की बहुतेरी दलीलें पेश करने लगे जिनके बारे में मेरा ज्ञान नहीं के बराबर था। मैंने जाल साहब व सर हुकमचन्दजी से स्पष्ट कह दिया कि इस विषय में मेरा ज्ञान कुछ नहीं है। अहमदाबाद से मैं कोई विशेषज्ञ बुलाऊंगा, वे जो सलाह मुझे देंगे उस पर मजदूरों को राजी करना मेरा काम है। मैं अहमदाबाद गया, पूज्य बापूजी व शंकरलालभाई ने लाला गुलजारीलाल नन्दा को भेजा। मजूर-महाजन अहमदाबाद के सारे कच्चे काम को करने व जमाने का श्रेय इन्हीं गुलजारीलालजी को है। उनके आजाने से अब हड़ताल व मजदूरों के संगठन को जहां कई गुना बल मिला तहां समझौते का रास्ता भी सरल हुआ। मालिक लोग भी उनकी जानकारी व सज्जनता का लोहा मानने लगे। इसके बाद मजदूरों का जो दृढ़ संगठन इंदौर में बना उसका बहुत श्रेय गुलजारीलाल को है। इस सम्पर्क में उनके जिन-जिन गुणों व योग्यताओं की छाप मुझ पर पड़ी, उससे मैं सदा के लिए उनका प्रशंसक व कद्रदां बन गया हूं। जब भी अवसर मिले, उनके साथ दो घड़ी रहने की इच्छा होती है।

इसी मजदूरी के सवाल पर हमारी तरफ से यह प्रस्ताव था कि पंच के जरिये फैसला करा लिया जाय। हमने इस सिद्धान्त पर जोर दिया कि यदि मालिक व मजदूर में झगड़ा है, व आपस में नहीं निबटता है, तो पंच के ज़रिये उसका निपटारा करा लेना चाहिए। मालिक लोग कहते—हम मालिक, वे हमारे मजदूर; हम फैसला करेंगे व उन्हें मानना होगा। सेठ हुक्मचन्दजी ने तो एक बार कहा भी कि हम बाप व मजदूर बेटे। हमारे झगड़े हम निपटा लेंगे। आप क्यों बीच में पड़ते हैं? मैंने जवाब दिया था—आप बाप-बेटों में झगड़ा है, आपस में कोई निपटारा हो नहीं रहा है, आपका फैसला मानने को वे तैयार नहीं, क्योंकि आप पर से उनका विश्वास हट गया है। हम चाहते हैं कि आपके और उनके सम्बन्ध मधुर हो जायं, आप पर उनका विश्वास जमने लगे, यह कोई बुरा काम हो तो हम लोग चले जायं, आप मजदूरों से निपट लें। हमारे रहते तो समझौते की भी उम्मीद है, फिर जब वे बम्बई से झाबवाला व जीनवाला[1] को बुलावेंगे तब आपको निबटना मुश्किल पड़ेगा।

इस पंच के उसूल से मालिक लोग घबराते थे; वास्तविक रूप में झगड़ों के शान्ति पूर्वक, थोड़े खर्च, थोड़े श्रम व अधिक न्याययुक्त फैसले का इससे अच्छा कोई रास्ता संसार में नहीं है। मालिकों के डर के दो कारण थे—एक तो पंच का सिद्धान्त स्वीकार करने से उनकी एकांतिक सत्ता, जो अब तक मजदूरों पर वे अपनी मान रहे थे, कायम नहीं रहती थी। दूसरे पंच के लिए मजदूरों की तरफ से बाहरी आदमी होंगे और उनको अपने 'घर' में घुसने देना उन्हें हानिकर मालूम होता था। उनकी कठिनाइयों का विचार करके हम लोगों ने यह मंजूर कर लिया कि रियासत के ही आदमी पंच रहें व जहां तक बने एक ही आदमी ऐसा तलाश किया जाय जिस पर दोनों पक्षों के लोगों का विश्वास हो। चुनांचे हमने तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री बापना साहब को दोनों तरफ से एक-मात्र पंच नियत करने का प्रस्ताव किया। सेठ हुकमचंदजी की ओर से इसको

१ उस समय के बम्बई के उग्रवादी मजूर-नेता

पसन्द नहीं किया गया। लेकिन हमारे स्वभाव की सौम्यता, हमारी सद्भावना, भलमनसाहत, व दोनों पक्ष के लिए सम्मान-पूर्ण समझौते की हमारी इच्छा—एक ही शब्द में हमारी अहिंसा-पद्धति के वे कायल होते जाते थे। एक ओर हमने जहां हड़ताल को सुदृढ़ बनाया, तहां दूसरी ओर मालिकों का या मिल का बिला वजह कोई नुकसान न हो, मालिकों या उनके आदमियों का किसी तरह अपमान न हो,इसका बड़ा खयाल रखा। इसका असर उन पर हुए बिना न रहा—यहां तक कि एक बार जब हम निराश होकर सेठ हुकमचन्दजी से आखिरी बातचीत करने गये और कहा कि 'अब हम लोग जाते हैं, आप पंच बनाने पर राजी नहीं होते और मजदूर इसके बिना दूसरा फैसला मंजूर नहीं कर सकते, सिवा इसके कि उनकी मांग ज्यों-की-त्यों मंजूर कर ली जाय—अर्थात् घण्टे कम करने की वजह से एक पाई भी मजदूरी कम न की जाय—तो हमारा ज्यादा रहना फिजूल है। मजदूर अब तक एक संगठन, एक अनुशासन में थे, शान्ति का पाठ सीख रहे थे। अब हमारे जाने पर वे अपने-आप स्वतन्त्र हो जायंगे, अब आप जानें और वे जानें।' तो उन्होंने हमसे कहा—'नहीं, फैसला तो आप ही लोगों से कराऊंगा। आप हमारी कठिनाइयों को समझने का यत्न करते हैं।' मजदूरों के तो हम विश्वास-पात्र इसीलिए थे कि उनकी वाजिब मांगों पर हम बराबर दृढ़ बने रहे। उनके सङ्गठन को मजबूत बनाते रहे, हड़ताल के सिलसिले में हर तरह की सहायता व सुविधा उन्हें देते रहे।

इसका प्रमाण नीचे लिखे संवाद से मिलता है जो एक मालिक व हमारे एक मान्य मित्र के बीच हुआ था—

मालिक—'हड़ताल तो जल्दी खत्म होती दीखती नहीं।'

मित्र—'क्यों, हरिभाऊजी तो समझौते का बहुत उद्योग कर रहे हैं।'

'क्या कर रहे हैं, उनके आजाने ही से तो हड़ताल इतनी मजबूत व लम्बी होगई। नहीं तो अब तक हमने मजदूरों को ठीक कर दिया होता।'

मित्र को बुरा लगा। 'हां, हरिभाऊजी ने आकर गलती की, नहीं

तो.........साहब की नाक अब तक उड़ गई होती ! और आप भी खुले आम मोटर पर दौड़ने की हिम्मत नहीं कर सकते थे।'

इधर मालिकों का हृदय हमारी ओर आकर्षित होता था क्योंकि हम उनकी कठिनाइयों व प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखते थे। वारिश के दिन थे। हड़ताल ऐसी मुकम्मिल थी कि मशीनों को तेल देने के लिए भी मालिकों को आदमी नहीं मिलते थे। उन पर जंग चढ़ रहा था, व बहुत खराब हो जाने का अन्देशा था। जाल साहब (हुकमचन्द ग्रुप के मैनेजिंग डायरेक्टर) ने बात-चीत के दौरान में मुझसे कहा—'उपाध्यायजी, एक बड़ा नुकसान हमारा हो रहा है और उससे मजदूरों का कोई फायदा नहीं। आपकी मदद के बिना वह नुकसान रुक नहीं सकता; उसमें मजदूरों को भी कुछ तो नुकसान होगा ही। तमाम मशीनों पर वारिश की वजह से जंग चढ़ रही है। उन्हें जल्दी ही तेल न दिया जायगा तो बहुत खराबी पैदा हो जायगी। आखिर एक रोज मिल तो चलनी ही है। जंग चढ़े सांचे मजदूरों को मिलेंगे तो कई दिन वे भी पूरा माल न बना सकेंगे व उनकी आमदनी पर इसका असर पड़ेगा।

मैंने महसूस किया कि इनका यह कष्ट सच्चा है, और मजदूरों के दृष्टि-बिन्दु से भी इस पर सोचने की जरूरत है। मैंने पूछा 'तो आप क्या मदद चाहते हैं ?'

'सिर्फ इतनी ही कि थोड़े से आदमी—मजूर दे दीजिए जो मशीनों को तेल दे दें।'

मुझे सन्देह हुआ कि कहीं हड़ताल तोड़ने की तरकीब तो न हो। क्योंकि हड़ताल प्रायः तभीतक कायम रहती है जबतक एक भी आदमी मिल के अन्दर न धंसने पावे। जहां एक भी ईंट खिसकी कि सारी इमारत ढहने की शुरूआत समझिए। अतः मैंने कहा—'आदमी भेजने से तो हमारी हड़ताल में कमजोरी आ जायगी। आपके लोग उन्हें बहका-बहकाकर मिल चलाने की कोशिश करेंगे।'

'नहीं, मैं वादा करता हूं कि ऐसा हरगिज न होगा।'

मैं सोच में पड़ गया कि क्या किया जाय ? मैंने कहा—'अच्छा सोचूंगा।' मैंने तय किया कि मजदूरों के आगेवानों के सामने यह मसला रखा जाय। जो शक मुझे था वही उन्हें भी हुआ। लेकिन हमने उन्हें समझाया कि अपना झगड़ा मालिकों से है, कारखाने या मशीनों से तो है ही नहीं। मशीन को नुकसान पहुंचाने से अपना क्या फायदा होगा, उलटा कुछ समय तक मजदूरों को भी नुकसान ही उठाना पड़ेगा।' तब सवाल हुआ कि उन्हें मदद कैसे पहुंचाई जाय ? किसी ने, शायद लालाजी ने ही, सुझाया कि एक शर्त पर हम अपने आदमी भेज सकते हैं—'मालिकों का कोई आदमी उनसे बातचीत न करे। उन पर निगाह रखने के लिए तेल देने वाले आदमियों के साथ हमारा एक विश्वास-पात्र आदमी अन्दर जायगा, और यदि मालिकों के किसी भी आदमी ने उनसे कुछ भी बात-चीत की तो सब तेल वाले उसी दम लौट आवेंगे, और फिर मिल में पांव न रखेंगे, भले ही मशीनें व कारखाना चौपट हो जाय।'

जाल साहब ने यह शर्त मंजूर की व मशीनों को तेल देने की सुविधा कर दी गई। इस घटना का असर खुद जाल साहब व उनके द्वारा मालिकों पर भी पड़ा। व इसके फल-स्वरूप आगे चलकर समझौते का एक मार्ग निकल आया।

जब हम शुद्ध न्याय पर दृष्टि रखते हैं, हक से अधिक अपने या अपने पक्ष के लिए कुछ नहीं चाहते, व साथ ही अपने विरोधी की हानि, कठिनाई व मान-सम्मान का ध्यान रखते हैं तो हमारी गति व प्रगति इतनी जोरदार व निश्चित हो जाती है कि संसार में उसे कोई शक्ति कुण्ठित नहीं कर सकती। क्योंकि विरोधी का दाव तभी चलता है जब हमारे पक्ष में कोई अनैतिक या ग़लत बात होती हो। तटस्थ आदमी भी हमारे तरफदार होने लगते हैं; क्योंकि उन्हें हमें दोष देने के लिए कारण नहीं मिलता। अहिंसा-मार्ग की यही खूबी है।

इस घटना के फल-स्वरूप एक दिन मालिकों की तरफ से एक मित्र

ने मुझे सुझाया—'उपाध्यायजी, आप लोगों की सद्भावना की मैं दाद देता हूं। इसलिए मैंने बहुत सोचा कि आखिर क्या रास्ता निकाला जाय जिससे आपका पंच का उसूल भी कायम रहे व मालिकों को भी कोई घाटा न हो। मुझे एक बात सूझी है, पर वह ऐसी अटपटी कि शायद आपके गले न उतरे। मगर मुझे उसके सिवा अब कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। और मुझे विश्वास होता है कि आप उसे मंजूर कर लें तो मजदूरों का भी कोई नुकसान न होगा।'

'जरूर बताइए।'

'आप सेठ हुक्मचन्द को हुक्मचन्द ग्रुप का पंच दोनों ओर से मंजूर कर लीजिए। इससे सब झगड़ा खतम हो जायगा।'

मेरे दिमाग में मानो किसी ने बिजली चमका दी। बिना ज्यादा सोचे ही मुझे, मानो अन्तःप्रेरणा से, यह लगा कि निश्चय ही यही एक-मात्र हल है, और इसमें मजदूरों की कोई हानि नहीं। मैंने सोचा कि इस समय सचमुच ही हुक्मचन्दजी मजदूरों को खुश करने की कोशिश करेंगे, व मजदूरी नहीं काटेंगे। परन्तु दूसरी तरफ जिनसे झगड़ा उन्हींको पंच बना देने की बात लोक-दृष्टि में भौंडी ही लग सकती है। सचमुच यदि मालिक मजदूरों के इतने विश्वास-पात्र बन जायं तो इसे अहिंसा की बड़ी विजय कहना होगा, परन्तु इसमें दोनों ओर से अपने लाभालाभ की ही दृष्टि प्रधान थी। मालिकों के पक्ष में यह बात पड़ती थी कि उन्होंने खुद ही—भले ही पंचकी हैसियत से—इस झगड़ेको निपटाया और यदि रियायत की गई तो यश उन्हीं को मिलेगा। मजदूरों के पक्ष में मुझे यह जंच रहा था कि और कोई पंच होंगे तो जरूर थोड़ी-बहुत कटौती हो जायगी; परन्तु हुकमचन्दजी के होने से, कम-से-कम इस समय तो—कटौती नहीं होगी।

परन्तु इन्दौर में अपने जिस किसी मित्र से मैंने इसकी चर्चा की उन्होंने मेरी दिल्लगी उड़ाते हुए कहा—'खूब, हुकमचन्दजी को आप पंच बनायेंगे, मजदूरों में अपनी इज्जत सही-सलामत रखनी हो तो ऐसी

ज़िम्मेदारी न लेना। मालिकों का क्या भरोसा? जिनसे झगड़ा उन्हीं के हाथ में मजदूरों की गर्दन दे देना तो परले सिरे की मूर्खता होगी।' छोटे से लेकर बड़े तक की टीकाओं का यह सारांश है। लेकिन मुझे तो जंच गया था कि इसके सिवा दूसरा हल नहीं, मजदूरों की कटौती बिलकुल न होगी। अतः इस टिप्पणी व उपहास के वातावरण में भी मेरा विश्वास दृढ़ बना रहा।

मैं अहमदाबाद पहुंचा। लाला गुलजारीलाल ने सुनते ही उपहास के स्वर में कहा—'खूब 'ऑफर' लाये आप? दुनिया क्या कहेगी? मजदूर कभी इसे पसन्द भी कर सकते हैं?' मैंने कहा—'यह कितनी ही हास्यास्पद बात हमें दीख पड़ती हो; पर हल यही है, व इसमें मजदूरों की कोई हानि न होगी—इसका मुझे विश्वास होता है। सारी परिस्थिति के अध्ययन का जो सामूहिक असर मेरे मन पर पड़ रहा है उसके फल-स्वरूप मेरी अन्तरात्मा यही कहती है।' जब मैंने बहुत जोर दिया तो हम लोग शंकरलालजी बैंकर के पास गये। उन्हें भी यह प्रस्ताव बिलकुल नहीं जंचा। अन्त में बापूजी के पास हम सब लोग गये। उन्हें भी यह अटपटा तो लगा; पर मैंने अपना सारा दृष्टि-बिन्दु खोलकर रखा व अपना आत्म-विश्वास प्रकट किया तो वे बोले 'तो अच्छा, इसको सामने रखकर चलो, मगर मजदूरों की राय न हो तो यह न करना।' मामला विकट व प्रसंग बड़ा नाज़ुक था। जोखिम भी कम नहीं थी। मजदूरों में तरह-तरह के तर्क फैलने का अन्देशा था। अतः लालाजी भी मेरे साथ आये। यह हमारे बुद्धि-कौशल व अहिंसा दोनों की परीक्षा का विकट अवसर था। यद्यपि इस 'आफर' को ठुकरा देते हैं तो फिर चारों ओर अन्धकार के सिवा कुछ नहीं दीखता था, यदि स्वीकार करते हैं तो सिर पर नंगी तलवार लटकाने के बराबर था। अतः बहुत फूँक-फूँक कर चलने का हम लोगों ने निश्चय किया। मजदूरों के सामने इस सुझाव को रखने के पहले हमने खुद सेठ हुकमचन्दजी से ही बात-चीत करने का निश्चय किया व उसका परिणाम देखकर आगे कार्य-क्रम निश्चित

करना तय किया। उनके रुख का हम पर अनुकूल ही असर हुआ—हमने सेठ साहब से कहा—'मजदूरों को आप अपना बेटा कहते हैं, अब बाप के ही सिर पर पंच की हैसियत से फैसला करने का बोझ पड़ना चाहता हैं, बाप ने बेटों को प्रसन्न करने का अवसर खो दिया तो हमारी जिम्मेदारी नहीं, हम मजदूरों की तरफ से आपसे कोई रियायत नहीं चाहते, सिर्फ न्याय चाहते हैं।' उन्होंने हमें यकीन दिलाया कि वे पंच की हैसियत से न्याय ही करेंगे, परन्तु बाप की हैसियत से मजदूरों के प्रति हृदय में सहानुभूति भी रखते हैं। इससे मुझे व लालाजी को भी उत्साह मिला। बाद में इस चीज को मजदूरों के आगेवानों व फिर मजदूरों के गले उतारने में लालाजी ने जो चातुर्य प्रदर्शित किया उसकी मुझ पर गहरी छाप पड़ी। उनके सुझाव पर मजदूरों के आगेवानों का एक शिष्ट-मण्डल सेठ साहब से मिलने भिजवाया। उसने कहा—'सेठ साहब की बातचीत का हम पर अच्छा असर हुआ है, हमें विश्वास हुआ है कि वे अपने साथ इस समय न्याय ही करेंगे। मजदूरों की गर्दन नहीं काटेंगे। लेकिन आप लोग भी उनसे मिल लीजिए—आपके दिलों पर भी ऐसा असर पड़े तो हम सब मिलकर मजदूर भाइयों को इसके लिए समझायेंगे। इधर सेठ साहब से हमने कहा—'हमें तो यह प्रस्ताव जंच गया है, परन्तु जब तक मजदूरों को न जंचे तब तक अपनी जिम्मेदारी पर यह जोखिम लेना हम नहीं चाहते। मजदूरों के आगेवान आपसे मिलेंगे। उनपर जो असर आपके रुख का पड़ेगा उसीसे उन्हें मजदूरों को समझाने का उत्साह या अनुत्साह मिलेगा और उसी मात्रा में हम भी उसमें सफल या असफल होंगे।'

आगेवान लोग बहुत प्रभावित होकर लौटे। तब मजदूरों की आम सभा बुलाकर उसमें प्रस्ताव की चर्चा की। सेठ हुकमचन्दजी तथा (स्व०) द्रविड वकील को मजदूरों की तरफ से पंच घोषित किया गया। हुकमचन्द ग्रुप के लिए हुकमचन्दजी व मालवा मिल के लिए द्रविड साहब मालिक व मजदूर दोनों की तरफ से पंच नियत किये गए। इस पर अधिकांश मजदूरों

के दस्तखत करा लिये गए। दो महीने के बाद दोनों ने फैसला दिया जिनमें मजदूरी न काटने की घोषणा की गई। इस तरह मजदूरों की तीनों मांगें (१) बोनस मिले, (२) काम के घण्टे १० कर दिये जायं, (३) मजदूरी न काटी जाय, पूरी हुईं। चौथा लाभ यह हुआ कि मजदूर-संघ कायम हो गया, जिसके सभापति श्री द्रविड वकील, उपसभापति जाल साहब व मैं, प्रधान मंत्री लाला गुलजारीलाल बनाये गए।

लालाजी कहते थे कि ऐसी सफल हड़ताल हिन्दुस्तान में यह पहली ही है जिसमें मजदूरों की सब मांगें पूरी हुई हों व इतने लाभ एक साथ हुए हों।

: २६ :

हृदय-मन्थन

इस हड़ताल के सञ्चालन व शुभ समाप्ति के दरमियान ऐसे कितने ही अवसर आये जिनमें मेरा खूब हृदय-मन्थन हुआ। कई नये अनुभव हुए और विश्वास भी बहुत बढ़ गया। अहिंसा का पालन कैसे एक ओर मनुष्य को तेजस्वी व अदम्य बनाता है, तथा दूसरी ओर समझदार (reasonable) सभ्य व विनम्र बनने के लिए विवश करता है, इसका अनुभव हुआ। मजदूरों की जाहिरा अहिंसा ने सरकार, मालिक व नागरिक सब पर असर किया व तीनों की ओर से उन्हें प्रशंसा प्राप्त हुई। इसके दो-तीन अनुभव यहां देने लायक हैं।

हड़ताल के सिलसिले में मुझे प्रधान मन्त्री से अक्सर मिलना पड़ता था। मैंने उनसे चाहा कि इस मामले में सरकार किसी का पक्ष न ले। घण्टे का फैसला कर देनेके बाद जब तक मजदूरों की तरफ से शान्ति भंग नहीं होती, सरकार को दखल देने की कोई जरूरत नहीं पैदा होती। आप या तो समझौते की कोशिश कर सकते हैं या तटस्थ रह सकते हैं। तरफदारी आप किसी की न करें। क्योंकि मजदूरों को यह अन्देशा है कि सरकार मालिकों के साथ है। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि 'सरकार न मालिकों का नुकसान चाहती है, न मजदूरों का। वह शान्ति चाहती है व चाहती है कि मिलें जल्दी चालू हो जायं। इसमें जो विघ्न डालेंगे उनसे सरकार नाराज होगी।' चूंकि मजदूरों की बहुतेरी शिकायतें पुलिस व मालिकों की तरफ से उन तक पहुंचती रहती थीं, इसलिए मैं उनसे

जब-तब मिल लिया करता था व मजदूरों की स्थिति स्पष्ट कर दिया करता था। एक बार मालिकों में से एक ने उनसे कहा—'आप तो मजदूरों की तरफदारी करते हैं। हरिभाऊजी बार-बार आपसे मिलते हैं, इससे आपकी सहानुभूति एक ही तरफ बढ़ती जा रही है।' इसके बाद जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने इस संवाद का जिक्र किया। मैंने समझा शायद इनकी मन्शा यह हो कि मैं उनसे न मिला करूं। मैंने कहा—'आप खुद देख सकते हैं कि मैंने मजदूरों की तरफ से कोई अनुचित बात आपसे चाही हो, या मालिकों के खिलाफ आपको कभी भरना चाहा हो। मजदूरों की स्थिति आपके सामने गलत तौर पर न आती रहे, इसी की चिन्ता मैंने रखी है। फिर भी आपको ऐसा लगता हो कि मेरा आना अवाञ्छनीय है तो मुझे न आने से कोई दुःख न होगा। सिर्फ इतना ही कि मुझे मजदूरों की तरफ से बहुतेरी बातें सार्वजनिक रूप से कहनी व लिखनी पड़ेंगी, जिनसे समस्याएं और उलझ सकती हैं। वैसे यह एक तरह से अच्छा भी है। मैं मजदूरों की तरफ से जो कुछ उचित दीखे करने के लिए स्वतंत्र रहूंगा, आप राज्य को ओर से स्वतन्त्र ही हैं। लेकिन इसमें, सम्भव है, मुझे राज्य से उलझ जाना पड़े और आपको भी कटु-कर्त्तव्य का पालन करना पड़े। मालिक लोग अगर इसमें खुश हैंतो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'

उन्होंने कहा—'नहीं, मेरा यह मतलब नहीं है। मैंने तो यों ही चलतू बात आपको सुना दी। मैं जो कुछ करता हूं, अपनी जिम्मेदारी समझकर ही करता हूं।'

× × × ×

यह सुझाव आया कि श्री बापना साहब को दोनों ओर से पंच बना दिया जाय। इस सुझाव की खूबी यह बताई गई थी कि वे राज्य के प्रतिनिधि हैं, अतः मालिकों के हित उनके हाथ में सुरक्षित हैं। पंच हैं, इसलिए मजदूरों के साथ भी न्याय ही करेंगे। फिर 'बाहरी आदमी पंच न हो' इस आवाज का भी समाधान इसमें हो जाता है। ये दलीलें मौजूं

होते हुए भी मुझे यह आशंका ही रही कि वापना साहब को पंच बनाने में मजदूरों को घाटा रहेगा। मालिक लोग =) रुपया मजूरी काटना चाहते थे। मुझे यह अन्देशा था कि वापना साहब दोनों पक्ष को राजी रखने के लिए -) जरूर काटने का फैसला देंगे। इधर उनके सौजन्य की छाप बराबर मुझ पर थी। दूसरा हल भी नहीं दिखाई देता था। उधर मजदूरों के नुकसान होने का भी डर। इस कशम-कश से मैं एक दिन-रात बेचैन रहा। मुझे रात-भर नींद नहीं आई, व परमात्मा से प्रार्थना करता रहा कि कहीं वापना साहब को पंच बनाने की जिम्मेदारी लेकर मैं हजारों मजदूरों की हानि की जोखिम तो नहीं ले रहा हूं। अन्त में लाला-जी व मैं दोनों इसे स्वीकार कर लेने के ही नतीजे पर पहुंचे। ईश्वर की दया ही समझनी चाहिए, कि मजदूरों की तरफ से स्वीकृति-पत्र चला जाने पर भी हुकमचन्द ग्रुप वालों ने इसको मंजूर नहीं किया। मुझे अब भी यही लगता है कि वापना साहब -) जरूर कटवाते; परन्तु परमात्मा को यह मंजूर नहीं था, अतः हुकमचन्दजी को पंच बनाने जैसा अटपटा प्रस्ताव कराके भी अन्त को उनसे मजदूरों का १ पैसा भी न कटने दिया। इससे मेरी ईश्वर-श्रद्धा बढ़ी, और कुछ ऐसा अनुभव करता हूं कि जिस काम का शुभ परिणाम न निकलने वाला हो उसका कुछ खटका पहले ही से हो जाया करता है। यह भी अनुभव होता है कि किसी अवांछनीय बात की ओर प्रवृत्ति होती हो तो भगवान् न जाने कहां-कहां से किस तरह उसमें रुकावट डाल देता है। इसे मैं भगवान् की अपने ऊपर कृपा व बड़े बूढ़ों तथा गुरुजनों का आशीर्वाद ही समझता हूं। ऐसा भी अनुभव कई बार हुआ है कि किसी व्यक्ति को देखते ही अचानक मुझे ऐसा लगा कि इसमें कोई गहरी खराबी होनी चाहिए, बावजूद तमाम जाहिरी अच्छा-इयों के मेरा वह खटका बना ही रहा व अन्त में कुछ समय बाद उसका गहरा पोल-खाता खुला। मैंने यह भी अनुभव किया है कि जब अन्तः-करण की प्रेरणा पर चलता हूं तो झाड़ी-झङ्खड़, कुएं-खाई में गिरते हुए भी साफ—पाक बाहर निकल आता हूं, लेकिन बुद्धि की कतर-ब्योंत

में पड़ जाता हूं तो धक्के खाता रहता हूं। फिर भी कई बार अन्तरात्मा की आवाज़ पर चलने की हिम्मत नहीं होती, हालांकि कल्याण उसी में दीखता है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस अंश तक मनुष्य की आत्मा में मलिनता होती है, कोई कसर व कच्चाई होती है, उसी अंश तक उसमें ऐसे साहस का अभाव पाया जाता है। उस मलिनता के स्वरूप पर विचार करता हूं तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इनमें कोई एक या अधिक विकारों का आवरण आत्मा पर छाया हुआ होना चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि इनमें से काम व अहंकार का आवरण मुझे और विकारों से अधिक दबाये हुए है। मैं जाग्रत रहकर उनसे लड़ने में प्रयत्नशील हूं। फल तो सर्वथा परमात्मा के ही अधीन है।

हड़ताल चलते-चलते कई दिन हो गये। मालिकों ने वापना साहब जैसे तक को पंच बनाना मंजूर न किया तो एक ऐसा अवसर आ गया जब लालाजी व मैं—दोनों बिलकुल निराश हो गए। मजदूर बार-बार आकर हमें डांटने लगे कि आप लोगों से कुछ न होता हो तो अब हमें छुटा छोड़ दीजिए। हम अपने बल-बूते—मतलब मार-धाड़ लूट-पाट-पर दो दिन में फैसला करा लेंगे। मालिक लोग एक-न-एक बहाना निकालते रहते हैं और आप लोग कोई जोर नहीं लगाते। अब आपके तरीके से काम नहीं होता दीखता। हमें क्यों रोक रहे हैं?' बमुश्किल तमाम हमने उनसे १०-१५ दिन का समय और मांगा और रात को दोनों इस नतीजे पर पहुंचे कि अब तो यहां से अपना-सा मुंह लेकर ही वापिस लौटना होगा। इससे चित्त बहुत भारी-भारी हो रहा था। लालाजी तो शायद १-२ दिन में अहमदाबाद चले गये। मैं अकेला नित्य परमात्मा से प्रार्थना करता कि आखिर क्या इसीलिए तूने मुझे अजमेर से यहां भिजवाया? यह तो शुरू में ही मुंह काला कराने का ढंग बना दिया। अच्छा अगर तेरी यही मर्जी है तो यही सही। हमारा मुंह काला भले ही हो, पर तेरी मरजी होने दे। इस प्रार्थना के बाद मेरे हृदय का भार हल्का हो गया। मैं इस दुष्परिणाम के लिए तैयार हो गया और अब एक

वैज्ञानिक की तरह अलिप्त भाव से परिस्थिति को देखता रहा। कुछ ही दिनों में मालिकों की तरफ से एक सज्जन ने सर सेठ हुकमचन्दजी को पंच बनाने का सुझाव पेश किया, जिसमें मुझे वास्तविक हल दिखाई दिया और अन्त को ऐसा ही साबित भी हुआ।

: २७ :

एक नई कसौटी

इन्दौर से फारिग होते ही एक नई कसौटी सामने आ गई। नीमच (छावनी) में यादव-युवकों का एक संगठन अर्से से चला आरहा है। ये लोग काम तो इमारत आदि बनाने का करते हैं; परन्तु गिनती हरिजनों में होती है। इन्होंने सवर्णों की अनुमति से अपना एक स्वतन्त्र मन्दिर बनवाया। इस पर किसी सनातनी ब्राह्मण ने यह व्यवस्था दी कि जो अछूतों की पूजित मूर्ति का दर्शन करते हैं उनकी कई पीढ़ी नरक में जाती हैं। इससे दोनों में बड़ी कशम-कश चल रही थी। ऐसे वातावरण में वहां के यादव-युवकों ने एक परिषद् की आयोजना की व उनकी तरफ से वहां के प्रसिद्ध---अब स्व० सेठ श्री नथमलजी चोरडिया राजस्थान सेवा-संघके मंत्री श्री रामनारायणजी चौधरी को उसके सभापतित्वके लिए लिवाने आये। वे नहीं जा सके व उन्होंने उनको मुझे ले जाने का संकेत किया। चोरडियाजी का यह प्रथम ही परिचय मुझे हुआ। नवरात्र के दिन थे। हमारे यहां व्रत व पूजन होता है, और मेरे लिए उन दिनों बाहर जाना सम्भव नहीं था। फिर भी जब हरिजनों का प्रश्न सामने आया तो इस कर्त्तव्य से मुंह भी नहीं मोड़ा जा सकता था। एक ब्राह्मण के नाते मैं मानता हूं कि हरिजनों की सेवा में सबसे पहला हिस्सा उनका होना चाहिए और यदि परिस्थितियों ने मुझे मजबूर न कर दिया होता तो अपना जीवन इसी कार्य में दे देता। अपनी इस भावना के कारण मैं बड़ी दुविधा में पड़ा। अन्त को यह तय रहा कि मेरे बजाय भाई बैजनाथजी महोदय को सभापति बनाया जाय; मैं साथ चलूंगा, मगर

अष्टमी को, पूजन के दिन, लौट आऊंगा। हमारे साथ श्री कृष्णचन्द्रजी विद्यालङ्कार—अब अर्जुन के सम्पादक—व श्री हरिजी—उस समय के ब्रह्मचारी हरि, भी थे।

सुबह नीमच स्टेशन पर उतरते ही चोरडियाजी ने संवाद सुनाया कि परिषद् के आयोजन से नीमच, छावनी व बघाना, तीनों के सवर्ण हिन्दू चिढ़ गए हैं व उन्होंने परिषद् के तथा परिषद् में सहयोग देने वालों के बहिष्कार का प्रस्ताव पास किया है। तदनुसार हम आगन्तुकों को न कहीं कोई ठहरने को मकान मिल सकता है, न खाने को रोटी या अनाज। हमें इससे पहले इस परिस्थिति की न तो कोई जानकारी ही थी, न कोई आशंका ही। सुनते ही हम सब स्तंभित होगए। 'हम तो न यहां के लोगों को जानते हैं, न परिस्थिति को। आपके बुलाये हम आ गये हैं। जैसा आप बतावें वैसा किया जाय। लेकिन मैं इतना कह दूं कि परिषद् किये बगैर हमारा लौटना बहुत ही बुरा होगा—चाहे जो हो, भले ही एक-दो रोज़ ज्यादा लग जायं, मगर उत्सव जरूर होना चाहिए। चोरडियाजी जवां-मर्द थे। बोले, खाना तो मैं आपको अपने घर खिलाऊंगा। भले ही मुझे बिरादरी वाले खारिज कर दें। मगर ठहरने का सवाल विकट है। हरिजनों के यहां हम लोग जान-बूझकर ठहरना नहीं चाहते थे, क्योंकि इससे सवर्णों के सहयोग का प्रश्न और जटिल होजाने की आशङ्का थी। हमें तो उनका हृदय जीतना था—अहिंसा व सहूलियत से काम करना था। मैंने पूछा कोई धर्मशाला, सराय भी है या नहीं।

'है तो, मगर उनके मालिक शायद ही हिम्मत करें।'

'यहां तो आर्यसमाज की बड़ी धूम रहती है। क्या कोई आर्यसमाजी भी ऐसा नहीं है, जहां हमारे ठहरने का प्रबंध होजाय?'

'धर्मशाला तो एक आर्यसमाजी सेठ की ही है; पर उनमें भी इतनी हिम्मत नहीं है कि बिरादरी वालों का रोष सहन करें।'

'धर्मशाला में किसी का क्या लेना-देना। वहां तो सभी यात्री ठहर सकते हैं। क्या यात्री के नाते हमें वहां ठहरने का अधिकार नहीं है।

आप तो हमें वहीं ठहराइए—जब कोई निकालने आवेगा तब देख लेंगे।'

यह विचार सबको पसन्द आया व चोरडियाजी ने कहा कि आपको निकालने की जुर्रत शायद कोई न करे।

तब हम लोग वहीं चले। यादव-युवकों व बालकों व कुछ बड़े-बूढों से घिरा हुआ हमारा जुलूस छावनी में चला। तो कोई हमें देखकर मुंह बनाता, कोई दूसरी तरफ देखकर थूक देता, चेहरों पर घृणा का भाव झलकता हमने देखा। जीवन में ऐसे 'स्वागत' का पहला ही अवसर था। हमने इसे परमात्मा की कृपा के रूप में ही अपनाया। जी में हुआ कि चलो यह भी एक नया अनुभव है, देखें इसमें से क्या नतीजा निकलता है।

धर्मशाला में टिक गये व चोरडियाजी के यहां भोजन करने गये। उनका घर में सेठानी से झगड़ा हो गया। वे पुराने विचार की हैं और अपने विचारों की बड़ी दृढ़ भी हैं। इधर चोरडियाजी भी वैसे ही बात के धनी, आन-बान के आदमी। उन्होंने कह दिया—घर मेरा है, मिहमान मेरे बुलाये हैं, जरूर मेरे यहां भोजन करेंगे, तुम लोगों को एतराज हो तो दूसरे घर में चली जाओ, मैं उन्हें खाना बनाकर खिलाऊंगा।' अब तो सेठानी लाचार होगईं।

पहुंचते ही परिस्थिति का अध्ययन करना शुरू किया तो पता चला कि केवल सवर्णों का ही विरोध इस परिषद् में नहीं है, बल्कि यादवों के चौधरियों व बड़े-बूढ़ों का भी विरोध है। वे नवयुवकों के नेता श्री धनीराम जी पर इस बात के लिए नाराज थे कि वह उनकी जात-पंचायत में दखल देते हैं व उनकी प्रतिष्ठा को गिराना चाहते हैं। मतलब कि परिषद् या उत्सव तभी सफल हो सकता था जब एक ओर यादवों में एकता हो, फिर यादवों व सवर्णों में सहयोग हो। भीतरी व बाहरी दोनों कठिनाइयों का सामना हमें करना था।

हमारे धर्मशाला में टिक जाने व चोरडियाजी के घर खाना खाने का असर यह हुआ कि सवर्णों में जो सुधारक प्रवृत्ति के थे उनका कुछ हौसला

चढ़ा। फिर भी दिन में तो प्रायः सब हमसे मिलना टाल रहे थे, अतः दिन हमने भीतरी कठिनाइयों को समझने व दूर करने में बिताया। रात को १-२ आर्यसमाजी हमसे मिले। उनकी सलाह से परिषद् को सफल बनाने की योजना बनी। यादवों की फूट मिटाने की जिम्मेदारी मैंने ली; सवर्णों की सहानुभूति व सहयोग प्राप्त करने के लिए चोरडियाजी व अन्य एक-दो सुधारक मित्र उद्यत हुए। यह तय पाया कि स्थानिक लोगों के अलावा जो बाहरी सवर्ण नीमच, छावनी, बघाना, स्टेशन आदि आस-पास हों, जिन पर यह बहिष्कार की तलवार न चल सकती हो उन्हें उत्सव में बुलाया जाय, खास तौर पर लाने का प्रयत्न किया जाय।

आन्तरिक एकता के लिए धनीरामजी व उनके युवक दल को मैंने बताया कि आप लोग पुरानी पंच-पंचायती के मामलों में दखल न दें। अलग संगठन करके अपने सुधार-कार्य जारी रखें। इससे बुड्ढों की यह आशंका कि हमारा हक छीनना चाहते हैं, दूर हो जायगी। बुड्ढों व चौधरियों को समझाया कि युवक-दल जो कुरीतियों को दूर करना चाहते हैं, उससे आपका हिन्दू-समाज में दर्जा बढ़ेगा। आपको चाहिए कि आप सुधारकों से नाराज न हों बल्कि उनका बल बढ़ावें। युवकों को मैंने समझाया कि उत्सव का स्वागताध्यक्ष अपनी पंचायत के बूढ़े चौधरी को बनाओ, जिससे उनकी यह आशंका आज से ही निर्मूल होने लगे कि युवक बड़े-बूढ़ों का, पंच के मुखियाओं का मान-सम्मान नहीं करना चाहते।

इन कठिनाइयों की वजह से पहले दिन परिषद् न हो सकी। लेकिन चारों तरफ से जो समाचार आने लगे उनसे यह निश्चय हो गया कि दूसरे दिन जरूर उत्सव हो जायगा व उसमें कुछ सवर्ण भी आ सकेंगे।

इधर विरोधी पक्षवालों ने चारों ओर यह प्रचार कर दिया कि बाहर से जो लोग आए हुए हैं, वे आर्यसमाजी हैं, ताकि सनातनी और खिंच जायं। यदि हम यह प्रत्यक्ष साबित कर सकें कि हम आर्यसमाजी नहीं हैं तो वातावरण के बहुत कुछ बदलने की आशा थी। रात ही को मैंने सुझाया कि सुबह ही हम लोग नहा-धोकर तिलक लगाकर किसी राम-

मन्दिर या कृष्ण मन्दिर में दर्शन के लिए चलें। इससे बढ़कर प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सनातन-धर्मी होने का क्या हो सकता था ? फिर सोचा कि मन्दिर में चलने से या तो लोगों से, पुजारी आदि से झगड़ा होगा, या बातचीत का सिलसिला निकलेगा। दोनों स्थितियां अपने लिए शुभ ही होंगी।

हम चारों जो मन्दिर में गये तो दरवाजे पर ही कुछ लोगों ने टोका—'यह मन्दिर है, आप कहां जा रहे हैं ?'

मैं—'भगवान् के दर्शन करने जा रहे हैं, क्यों क्या मनाई है ?'

वे लोग एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। इतने में हम अन्दर चले गये; मूर्ति को प्रणाम किया व पुजारी ने चरणामृत तथा तुलसीदल हाथ में रखा, हमने भक्ति-भाव से ग्रहण किया। इतने ही में कुछ लोग हमारे पीछे मन्दिर में धंस आये। किसी ने पुजारी से कहा—ये आर्य-समाजी मन्दिर में घुस आये हैं, आप कुछ कहते नहीं।'

पुजारी के हृदय में भगवान प्रकट हुए—'इन्हें कौन आर्यसमाजी कहता है, मूर्ति को प्रणाम किया है, चरणोदक व तुलसीदल लिया है, यों ही दूसरों को वदनाम करते हो !'

हमारा आधा काम होगया। तब मैंने उनसे शान्तिपूर्वक बैठ जाने के लिए कहा व पूछा—'किसने कहा कि हम लोग आर्यसमाजी हैं? हम में सिर्फ एक ही—कृष्णचन्द्रजी—आर्यसमाजी कहे जा सकते हैं, लेकिन ये भी मन्दिर में आये हैं। इसलिए कि भगवान् राम व कृष्ण को वे महा-पुरुष जरूर मानते हैं। अगर आर्यसमाजी मन्दिर में आते हैं तो इससे हमारा महत्त्व घटता नहीं, बढ़ता ही है। और आप लोग यह विना बात का वतंगड़ क्यों बना रहे हैं? अपने ही भाइयों का बहिष्कार क्यों कर रहे हैं ?'

उन्होंने इसपर यादवों की शिकायतें शुरू कीं व हमारा अपराध यह बताया कि आप लोग इनके तरफदार होकर आये हैं, इसलिए हम आप को भी नहीं चाहते।'

मैं—'किसने कहा तरफदार होकर आये हैं ? हम हरिजनों में सुधार

चाहते हैं, उन्हें सफाई सिखाना, मद्य-मांस छुड़वाना, पढ़ाना-लिखाना चाहते हैं, क्या यह कोई बुरा काम है ? यदि यादव लोग सवर्णों के साथ कोई दुर्व्यवहार कर रहे हों तो हम उनका समर्थन करने हरगिज यहां नहीं आये हैं। हमें आने से पहले आप लोगों के विरोध का पता भी नहीं था। अब तो हमारा यह भी फर्ज हो जाता है कि १-२ दिन और यहां रहें व आपके इनके सम्बन्धों को ठीक करा दें। अगर इसमें यादवों का कहीं कसूर हमको दीखा तो हम जरूर उनको समझावेंगे, और उसमें उनका साथ न देंगे। हम तो शुद्ध न्याय के हामी हैं, हमें उनका या आपका पक्ष लेना मंजूर नहीं है।'

अब तो वे और सिटपिटाये। कहने लगे तो 'आपको हमारे पंचों से मिलना चाहिए।'

'जरूर। हम सहर्ष मिलेंगे, उनकी शिकायतें सुनेंगे और उनमें जो वाजिब मालूम होंगी उन्हें जरूर दूर भी करेंगे। हम फूट डालने या बढ़ाने नहीं आये हैं, आपस में प्रेम, सहयोग व एकता की धारा बहाने आये हैं। पंचों से हम कैसे व कहां मिल सकेंगे ?'

'उनसे पूछकर हम लोग तीसरे पहर आपको बता सकेंगे।'

'तो अब आप यह तो समझे गए न, कि हम लोग आर्यसमाजी नहीं हैं और जिन्होंने ऐसा प्रचार किया है उन्होंने हमारे साथ कितना अन्याय किया है ? और अन्याय के बल पर आप लोग यादवों को और हमें हराना चाहते हैं ! क्या यही सनातन धर्म है ?'

अब वे और शर्मिन्दा हुए। मैंने कहा—'तो आपका यह कर्त्तव्य है कि जहां कहीं आप लोगों ने यह झूठ फैलाया है वहां-वहां इसका संशोधन करें।'

मेरा खयाल है, कि इस कार्य-क्रम का अच्छा ही असर हुआ। छावनी में यह बात अपने-आप फैलने लगी कि ये लोग तो सनातन-धर्मी हैं। अब विरोधी पक्ष में ही एक दल हमारा समर्थक यदि नहीं तो हम-दर्द जरूर बनने लगा।

रात को जल्सा हुआ। महोदयजी ने अपने भाषण में सवर्णों को राम व यादवों को लक्ष्मण बताकर दोनों को सहयोग व प्रेम से रहने व अपने रगड़ों-झगड़ों को मिटाने की अपील की, जिसका बड़ा असर हुआ। सवर्ण जो सभा में आये, वे दो तरह के थे। एक तो सीधे सभा में आकर बैठे—इनमें अधिकांश बाहरी लोग थे। दूसरे वे जो पहले तो फासले पर खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे, पीछे धीरे-धीरे मण्डप के पास व अन्दर भी आगये। इनमें अधिकांश सुधारक दल के आर्यसमाजी आदि युवक थे। कुछ रूढ़िवादियों व बहिष्कारकों के लड़के भी थे।

पहले दिन का उत्सव बड़ी सफलता से सम्पन्न हुआ। दूसरे ही दिन सुबह सुधारक-दल की तरफ से एक विज्ञप्ति छपकर बंटी जिसमें बहिष्कारक पंचों से कहा गया था कि कल की सभा में फलां-फलां सवर्णों के घर के लोग उपस्थित हुए थे; बहिष्कार-प्रस्ताव के अनुसार या तो उनके खिलाफ कोई कार्रवाई की जाय, नहीं तो आज हम खुल्लम-खुल्ला सभा में जावेंगे।' अब बहिष्कारक बड़े पेच में पड़ गये। उन्हींमें से कुछ लोगों के लड़कों के नाम उसमें दिये गए थे। अब खिलाफ कार्रवाई करते हैं तो घर में ही झगड़े मचते हैं, फूट पड़ती है, नहीं करते हैं, तो आज बहिष्कार-प्रस्ताव की शान ही किरकिरी हुई जाती है।

इस वातावरण में मैंने उन्हें अपनी तरफ से सन्देशा भिजवाया कि मैं आज आपके मुखियाओं से खुद मिलना चाहता हूं, जिससे आपके दुःख व कठिनाइयों के कारण जान सकूं व हो सके तो उन्हे दूर करके यह आपस का झगड़ा खतम करा दूं। वे इतमीनान रखें कि मैं आर्य-समाजी नहीं—सनातन-धर्मी हूं व सनातन-धर्म का अपमान कदापि बरदाश्त नहीं करूंगा।

एक बगीचे में पंचों से तीसरे पहर भेंट हुई। उनकी दो आपत्तियां मुख्य थीं—एक तो यादव लोग हमको कुछ गिनते नहीं। दूसरे अछूत-पूजित मूर्ति का दर्शन निषिद्ध है, अतः वे अपने विमान न निकालें। यों उनमें जो मद्य-मांस-निषेध व शिक्षा-प्रचार किया जाता है, उसके वे पक्ष

में थे। परन्तु छूआछूत उठा देना नहीं चाहते थे। पहली बात के बारे में मैंने उनसे कहा कि मैं यादवों से कहूंगा कि वे, जैसा कि महोदयजी ने भाषण में कहा है, सवर्णों को बड़ा भाई समझें और उनके साथ कोई दुर्व्यवहार न करें। दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में मैंने उन्हें समझाया कि परमात्मा सबका एक है व सबको उसकी पूजा-अर्चा करने का अधिकार है। बल्कि जो पीड़ित व पतित हैं उनके लिए भगवान् का भजन-पूजन-अर्चन और भी ज्यादा जरूरी है। आपको तो उल्टा उन्हें विमान निकालने आदि के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। आप खुद अपने दरवाजे बन्द करके मूर्ति के दर्शन तक नहीं करते हैं, यह परमात्मा का बड़ा अपराध व घोर नास्तिकता है। परन्तु पण्डितों की व्यवस्था के आगे इन दलीलों का असर उनपर न हुआ। छूआछूत कायम रखने के पक्ष में उनकी दलीलें पेटेन्ट थीं जो अक्सर सनातनी कहे जाने वालों की ओर से दी जाती हैं। मैंने उन्हें समझाया कि इस प्रथा को अब जारी रखने से किस प्रकार हिन्दू-धर्म व हिन्दू-समाज की शक्ति दिन-दिन घटती चली जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से सब में एक आत्मा है, धार्मिक दृष्टि से वह ऊंचा है जो त्यागी, न्यायी, भला, परोपकारी व ईश्वर-भक्त है। इन गुणों से ऊंचाई-निचाई आंकी जाती है न कि जात-पांत के लिहाज से। सामाजिक दृष्टि से हरिजन हिन्दू-समाज का अङ्ग है और उसके प्रति अङ्ग जैसा व्यवहार न किया जायगा तो वह हिन्दू-समाज से अलग हो जायगा। परन्तु इनका भी उनपर कोई खास असर न हुआ। तब मैंने उनसे कहा—कम-से-कम उनके इस उत्सव में तो आप लोगों को बाधा न डालनी चाहिए। यह बहिष्कार का प्रस्ताव उठा लेना चाहिए। कल तो बहुतेरे सवर्ण उत्सव में आये थे, आज और भी ज्यादा आवेंगे, अतः यह आप का रवैया आत्म-घात ही साबित होगा। उन्होंने परिस्थिति की गम्भीरता तो महसूस की, पर प्रस्ताव वापिस लेने में अपनी तौहीन समझी। जो शरीक हुए थे उनके खिलाफ कुछ करने-धरने की भावना भी उतनी तीव्र

नहीं पाई गई। उन्होंने कहा—बहिष्कार तो ज्यादातर इस धारणा के वशीभूत किया गया था कि आप लोग आर्यसमाजी हैं व अछूतों के तरफदार बनकर आये हैं। हम इनमें सुधार तो चाहते हैं पर अपने सिर पर बिठाना नहीं चाहते। मैंने समझाया कि छूआछूत को मिटाना उन्हें सिर पर बिठाना नहीं है, बल्कि अपने समाज के अङ्ग में जो विष या पीब पड़ गया है, उसे बाहर निकालना है। उन्हें दलीलें कुछ जंचती तो थीं, पर समाज की कुप्रथाओं को मिटाने का बल उनमें नहीं था। अस्तु।

दूसरे दिन सभा और भी उत्साह के साथ हुई। बहुतेरे सवर्ण, मुख्यतः आर्यसमाजी उसमें खुल्लम-खुल्ला आये। आज की कार्रवाई—प्रस्तावादि—और भी इस तरह की गई जिससे सवर्णों के हृदय की कटुता कम हो। यादवों को पूर्ण सन्तोष रहा। चोरडियाजी बहुत आनंदित हुए। हम लोग भी अपने मिशन में सफल होकर लौटे। कृष्णचन्द्रजी ने कहा, 'उपाध्यायजी, आपने दो महीनों का काम यहां दो दिन में किया है।'

हरिजनों ने एक मामला मेरे सामने पेश किया व सलाह पूछी। एक यादव इस बात पर अड़ गया कि मेरी शादी फलां लड़की से करो, नहीं तो मैं ईसाई या मुसलमान हो जाऊंगा। इस धमकी को सुनते ही मैं गरम होकर बोला—वह अभी मुसलमान या ईसाई हो जाय, इस तरह धमकाकर कोई किसीकी लड़की नहीं मांग सकता, न ले सकता है। आप लोग ऐसी धमकी से डरकर लड़की दे दोगे तो कल को किसीकी बहू देने की नौबत आ जायगी। ऐसे नामाकूल आदमी तो ईसाई या मुसलमान हो जायं तो हिन्दू-धर्म का कुछ नहीं बिगड़ेगा, बल्कि उन्हीं धर्म वालों का नुकसान होगा, जो उन्हें अपने में मिलावेंगे। ये गन्दे लोग जहां भी रहेंगे, गन्दगी फैलावेंगे। वे बेवकूफ हैं जो ऐसों को अपने धर्म में मिलाकर फूलते हैं। मेरी इस राय का उनपर अच्छा असर हुआ। मैंने यह भी कहा कि हरिजन होने का यह मतलब तो नहीं कि उनकी कोई इज्जत नहीं, उनमें धर्म-कर्म, न्याय-नीति नहीं। यदि आपको

हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठा का पद पाना है तो अपनी इज्जत खुद चढ़ानी पड़ेगी।

इस तरह इस नई कसौटी में पास होकर हम लोग अभिमान के साथ अजमेर लौटे।

: २८ :

कार्य-विस्तार

जब मैं साबरमती से अजमेर यानी राजस्थान में आने लगा तब वहां केवल एक ही राजनैतिक संस्था सजीव थी व काम कर रही थी—राजस्थान सेवा संघ। उसका एक साप्ताहिक पत्र भी निकल रहा था–'तरुण राजस्थान'। १९२०-२१ के आन्दोलन में कांग्रेस संस्था बहुत जोर पर हो गई थी, खिलाफत-आंदोलन के समय तो कांग्रेस की शक्ति हिन्दू-मुसलमान-एके की वजह से बढ़ गई थी। परन्तु बाद में नेताओं के आपसी झगड़ों ने १९२६-२७ तक उसे इतना निर्बल बना दिया था कि कांग्रेस का साइनबोर्ड ही उसके अस्तित्व की निशानी रह गई थी। कांग्रेस के नाम पर सार्वजनिक चन्दा बन्द हो गया था—मिलता नहीं था। देशी-राज्यों में ग्वालियर में श्री पुस्तके साहब भिन्न-भिन्न रचनात्मक कामों के द्वारा जागृति कर रहे थे। १९२१ में इन्दौर में प्रजा-मण्डल जैसी संस्था बनाने का उद्योग सर्वश्री द्रविड़, सरवटे आदि सज्जन कर चुके थे, पर इस समय वह भी ठप हुई बैठी थी। श्री जमनालालजी व मणि-भाई कोठारी कुछ रियासतों में घूमे-फिरे थे व खादी के लिए अनुकूल वायु-मण्डल बनाया था। हां, शेखावाटी में अलबत्ता पाठशालाओं व सेवा-समितियों के रूप में सेठों की सहायता से कुछ जागृति के काम हो रहे थे। राजस्थान-सेवा-संघ के मित्रों से तो हमारी नीति-रीति मिलती नहीं थी, अतः उनसे मित्र-भाव रखने तक ही हमारी सीमा थी। कांग्रेस कमेटी एक तो कमजोर थी, दूसरे श्री सेठीजी उसकी बागडोर संभाले

रहे थे। मुझे झगड़कर संस्थाओं पर कब्जा करने की नीति पसन्द नहीं है। अपनी सेवाओं के बल पर यदि संस्थाओं में हमारा स्थान हो जाता हो तो वह मुझे अधिक प्रिय है। अतः जब कभी पद या कब्जा करने के लिए संस्थाओं में लड़ाई-झगड़े होते हैं तो मैं तटस्थ रहता हूं। सिर्फ कांग्रेस-कमेटी में ही ऐसे एक-दो मौके आये जब इस नीति में मुझे अपवाद करना पड़ा था। अतः फिलहाल राजनीति में न पड़ने की नीति रखी व चार दिशाओं में मेरे कार्य की शुरूआत हो गई। (१) चरखा-संघ के द्वारा खादी-कार्य को जमाना व बढ़ाना। (२) 'सस्ता साहित्य मंडल' के द्वारा साहित्यिक व राष्ट्रीय जागृति में सहायक होना (३) मजदूर-सेवा (४) बिजोलिया, जिसका वर्णन अब किया जायगा।

जयपुर-राज्य में खादी का उत्पत्ति-कार्य होता था। परन्तु बिक्री प्रायः बाहर बम्बई, गुजरात आदि में होती थी। जरूरत इस बात की थी कि प्रांत में ही अधिक बिक्री होने लगे। अतः राजस्थान में आते ही जहां एक ओर उत्पत्ति-केन्द्रों को जमाने व विकसित करने में, आरम्भिक कठिनाइयों को हल करके काम को आगे बढ़ाने में सहयोग दिया; जिसके फल-स्वरूप अमरसर, गोविन्दगढ़ व बांसा के तीन क्षेत्र संगठित हुए, तहां खादी-फेरी व प्रदर्शिनियों के द्वारा खादी-प्रचार की भी शुरूआत की। इन्दौर, उज्जैन व देवास में सबसे पहले मैंने खादी-फेरी का आयोजन किया, उसमें जो सफलता मिली उससे इन्दौर व उज्जैन के खादी-भण्डारों की नींव पड़ी। अजमेर में शिक्षा व कला-परिषद् के अवसर पर तथा भरतपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर (१९२७ में) खादी-प्रदर्शिनियां की गईं।

इसी तरह बिजोलिया (मेवाड़ राज्य) में १-२ साल पहले से श्री जेठालालभाई वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य चरखा-संघ के द्वारा कर रहे थे। ९ मई १९२७ के 'तरुण राजस्थान' में खबर छपी कि—गत ३ ता० को 'राजस्थान-सेवा-संघ' के तीन कार्यकर्ता, जो कि गांवों में शान्ति-पूर्वक केवल शिक्षा-प्रचार का कार्य कर रहे थे, और दो आदमी

चरखा संघ खादी का काम करते हुए गिरफ्तार कर लिये गए हैं। अ० भा० चरखा संघ बिजोलिया के प्रमुख सञ्चालक से जमानत देने को कहा गया।' श्री जमनालालजी बजाज इन दिनों अ० भा० चरखा संघ के अध्यक्ष व राजस्थान-चरखा-संघ के एजेएट थे। फिर मेवाड़-राज्य के साथ पहले बात-चीत करके बिजोलिया में काम शुरू किया गया था। ऐसी दशा में इन गिरफ्तारियों पर उन्हें आश्चर्य व दुःख होना स्वाभाविक था। इस मामले की जांच व सफाई करने के लिए वे खुद बिजोलिया गये। खादी-कार्यकर्त्ता के नाते मैं भी उनके साथ गया। पहले हम लोग उदयपुर गये, जिससे वहां के अधिकारियों का पक्ष मालूम हो जाय। इस यात्रा में मुझे सेठजी की कार्य-नीति व राजनीति-कुशलता को जानने का अच्छा अवसर मिला।

अधिकारियों ने बताया 'सेवा-संघ के कार्यकर्त्ता शिक्षा आदि के नाम पर छिपे-छिपे राजनैतिक कार्य करते हैं। उन्होंने अपने दो आदमी चरखा-संघ में घुसा दिये हैं व वे खादी की आड़ में राजनैतिक प्रचार करते हैं। आपसे बात हुई थी कि खादी वाले सिर्फ खादी का ही काम करेंगे, इसका भंग आपके लोगों ने किया है, व इसीलिए उनकी गिरफ्तारी की है।'

जम०—मैं तो ऐसा नहीं समझता, पर, यदि ऐसी है तो मैं अवश्य इसकी जांच करूंगा व यदि आपकी जानकारी सही है तो मैं ऐसे कार्यकर्त्ताओं को चरखा-संघ में नहीं रखना चाहूंगा। हमारी नीति तो साफ व खुली है, जो कहेंगे वही करेंगे। लेकिन गिरफ्तार करने से पहले यदि आप मुझे यह सूचित कर देते कि आपके कार्यकर्त्ता वचन-भंग कर रहे हैं तो सम्भव था कि या तो मैं खुद उन्हें राजनैतिक काम से छुड़ा देता या चरखा-संघ से हटा देता। आपने गिरफ्तार करके रियासत के खिलाफ भी प्रचार करने का मौका दे दिया व हम लोगों में भी ग़लत-फहमी पैदा होने का सामान उपस्थित कर दिया। अब अच्छा हो कि आप उन्हें छोड़ दें व मैं सारी स्थिति सम्भाल लूंगा।'

'अब तो हम उन्हें तभी छोड़ सकते हैं जब आप यह वायदा करें कि पथिकजी के कोई आदमी खादी-कार्यालय में न आवें न ठहरने पावें। पथिकजी बड़े चाल-बाज आदमी हैं, हमें उनपर तनिक भी विश्वास नहीं है, भले ही आप उन्हें देश-भक्त मानें।'

'पथिकजी से हमारा नीति-भेद जरूर है; पर हम उन्हें अवश्य ही देश-भक्त मानते हैं, और कदापि इस शर्त को मंजूर नहीं कर सकते कि वे या उनके आदमी खादी-कार्यालय में न आवें, न ठहरें। अतिथि-रूप में हर किसी को हमारे यहां आने का अधिकार है व रहेगा। हां, यदि पथिकजी के आदमी कोई राजनैतिक काम खादी-कार्यालय से करना या कराना चाहेंगे तो हम जरूर उन्हें मना कर देंगे। क्योंकि हमने आपसे वादा किया है कि खादी-कार्य के साथ हम कोई राजनैतिक कार्य नहीं करेंगे, इसलिए नहीं कि हम राजनैतिक कामों से डरते हैं, या उसे बुरा समझते हैं। ब्रिटिश भारत में तो हम गले-गले तक राजनैतिक कामों में डूबे हुए हैं, मैं खुद कार्य-समिति का सदस्य हूं। परन्तु देशी रियासतों में हम अभी राजनैतिक काम नहीं करना चाहते और वह भी खादी या किसी दूसरे काम की आड़ में तो हरगिज़ नहीं।'

'आप तो बड़े होशियार लोग हैं। पहले खादी-काम के जरिये अपना संगठन दृढ़ कर लेंगे, पीछे एक दिन घोषणा कर देंगे कि अब हम राजनैतिक काम शुरू करते हैं, तो हम आपका क्या कर लेंगे ?'

'हां, जरूर ऐसा हो सकता है; पर खादी की आड़ में हम ऐसा हरगिज नहीं करते, न करेंगे। इतना ही हमारा वादा आपसे है। आगे यदि हमारा इरादा बदलेगा तो पहले आपको उसकी सूचना दे देंगे व फिर कोई दूसरा या राजनैतिक काम करेंगे।'

'लेकिन उस अवस्था में आपके काम को बन्द कर देना, या आपके प्रभाव को वहां से हटा देना हमारे लिए बहुत मुश्किल होगा; तो हम अभी से क्यों आपकी जड़ जमने दें ?'

'हां, पर जड़ न जमने देना तो आपके हाथ में नहीं है। जब हम

यह वादा करते हैं कि खादी का ही काम करेंगे, उसकी आड़ में राजनैतिक काम न करेंगे, तब आप खादी-काम को रोक भी कैसे सकते हैं? और रोकेंगे तो आप ही की बदनामी होगी कि खादी जैसे गरीबों की सेवा करने वाले रचनात्मक काम को भी ये रोकते हैं। जनता की सेवा भी नहीं करने देना चाहते।

'अब रहा यह कि खादी का काम जमनेपर हम जरूर राजनैतिक काम कर सकते हैं और यदि हमारा दल-बल मजबूत है और आप बुद्धिमान् होंगे तो हमसे समझौता कर लेंगे। नहीं तो आपकी हमारी भिड़न्त हो जायगी, फिर नतीजा जो भी निकले।'

अन्त में पथिकजी को या राजनैतिक काम करने वालों को खादी-कार्यालय में अतिथि-रूप में भी न ठहरावें—यह शर्त राजवालों ने वापस ले ली और हम लोग बिजोलिया रवाना हुए।

वहां जो तहकीकात की गई तो मालूम हुआ कि मेवाड़-राज्य को उन गिरफ्तार शुदा खादी-कार्यकर्ताओं पर सन्देह करने के कुछ कारण थे। खादी-संचालक को कार्यकर्ताओं के सम्बन्ध में अधिक सावधान रहने के लिए कहा गया व मुझे जहां तक याद है, बाद में दोनों खादी-कार्यकर्त्ता छोड़ दिये गये थे।

जब जमनालालजी उदयपुर में थे तभी वहां के किसानों की बन्दोबस्त सम्बन्धी शिकायतें उनके सामने आ चुकी थीं। मेवाड़-राज्य ने बिजोलिया के किसानों के साथ हुए अपने समझौते के अनुसार वहां बन्दोबस्त कराया जिसमें किसानों को शिकायत हुई कि लगान बढ़ गया। अतः उन्होंने लगान कम करने या फिर से बन्दोबस्त करने की मांग पेश की थी, और उसके मंजूर न होने की अवस्था में राजस्थान-सेवा-संघ के मित्रों की सलाह से विरोध-स्वरूप सारी जमीन का इस्तीफा पेश कर दिया था, व वह मंजूर भी हो चुका था। किसानों को व उनके सलाहकारों को यह आशा नहीं थी कि अव्वल तो राज इस्तीफे मंजूर कर लेगा, और यदि कर भी ले तो जमीन जोतने-बोने के लिए दूसरे लोग तैयार न होंगे।

वहां की किसान-पंचायत के संगठन पर उनका पूरा विश्वास था। पर अन्त में यह चाल फंस गई व किसानों ने चाहा कि जमनालालजी अपने प्रभाव-बल से इस समस्या को हल करा दें। इधर राज्य के तत्कालीन रेविन्यू मेम्बर मि० ट्रेंच भी, जिन्होंने बिजोलिया में बन्दोबस्त कराया था, चिन्तित थे कि प्रजा में किसी तरह शान्ति हो और उन्होंने भी जमनालालजी से कहा था कि आप बिजोलिया जाते हैं तो किसानों के प्रश्न को भी समझ लें व उन्हें शान्त करने का उपाय करें।

जमनालालजी की परिभाषा के अनुसार यह राजनैतिक प्रश्न था। अतः उसमें वे मध्यस्थ की स्थिति रखकर उसे सुलझा सकते थे। इस यात्रा में बिजोलिया का वस्त्र-स्वावलम्बन-कार्य जो मैंने देखा तो उसपर मुग्ध हो गया। मैंने जमनालालजी से कहा—सच्चा काम इसी लाइन पर हो सकता है। उत्पत्ति-बिक्री वाला काम यों ही है, यह हम देश-सेवकों को उल्टा बनिया-मनोवृत्ति का बनाता है। वे इस बात के तो कायल थे कि वस्त्र-स्वावलम्बन ही असली खादी-कार्य है; परन्तु एक तो इसके लिए गांव में रहकर काम करने वाले त्यागी सेवक नहीं मिलते, दूसरे किसानों से खुद काम करवा लेना बड़ा कठिन है। अतः वे इसे बहुत श्रम व समय-साध्य काम समझते थे। इसी समय मैंने 'वस्त्र-स्वावलम्बन बनाम उत्पत्ति-बिक्री' नामक एक लेख तैयार करके पूज्य बापूजी को भेजा जिसमें वस्त्र-स्वावलम्बन की महत्ता व उत्पत्ति-बिक्री वाली खादी की कमियां बतलाई गई थीं। बापू ने कहा—वस्त्र-स्वावलम्बन की महत्ता वाला भाग छापना मुनासिब होगा; उत्पत्ति-बिक्री की कमियों वाला छापने से हानि होगी। लोग वस्त्र-स्वावलम्बन तो अपनावेंगे नहीं, उत्पत्ति-बिक्री से अलबत्ता पराङ्मुख हो जायंगे। आज (१९४९) में बापूजी चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे हैं कि उत्पत्ति-बिक्री बन्द हो जाय तो मुझे रंज नहीं। वस्त्र-स्वावलम्बी एक भी व्यक्ति होगा तो मैं उसे लेकर नाचूंगा। मेरे जी में पहले भी आया करता था, व अब भी आता है कि उसी समय यदि बापूजी को किसी तरह यह जंच जाता तो वास्तविक खादी की ओर

देश ने बहुत प्रगति कर ली होती। परन्तु काम के होने का जब समय आता है, तभी होता है। बापूजी को जंचने के लिए आज की घटनाएं व परिस्थिति अनुकूल हुईं। जो हो, बिजोलिया वस्त्र-स्वावलम्बन के महान् प्रथम प्रयोग व प्रयत्न के रूप में खादी-इतिहास में अमर रहेगा। इसमें वहां की जिस पंचायत के संगठन से बहुत अनुकूलता पैदा हुई वह भी राजस्थान के किसानों में राजनैतिक जागृति व निःशस्त्र लड़ाई के इतिहास में अमर रहेगी। इसका वर्णन अगले प्रकरणों में।

: २६ :

बिजोलिया की समस्या

जब मैं राजस्थान में आने लगा तो मैंने अपने मन में यह हिसाब लगाया था कि कितना काम हो जाने पर अपना कार्य सफल या समाप्त मानूंगा। वास्तव में सफलता या असफलता या समाप्ति का ऐसा हिसाब लगाना बड़ा कठिन है। जिसे आप सफलता मान लेते हैं उसे दूसरे और ही कुछ समझते हैं व जिसे आपने समाप्ति मान ली है, उसे दूसरे आरम्भ भी नहीं मानते। इसके अलावा भी सफलता—समाप्ति आदि की सीमाएं हैं। जिन परिस्थितियों में हमने विचार किया था, वे बदल जाती हैं। खुद हमने जिस अवस्था में संकल्प किये होते हैं, वह भी वैसी नहीं रहतीं। जिन साधनों का हमने हिसाब लगाया था, उनमें भी बहुत कमो-बेशी होजाती है। दैवी कारणों का तो कोई आजतक हिसाब लगा भी नहीं पाया। इतनी अनिश्चित अवस्थाओं में या तो ऐसा हिसाब लगाना मनुष्य की मूर्खता ही है, या बहुत मोटा व अनिश्चित जैसा हिसाब केवल अपने सन्तोष या मार्ग-दर्शन के लिए बनाया जा सकता है, दूसरों को सन्तोष देने के लिए नहीं। अतः जहां सफलता का ढिंढोरा दुनिया में पीटना निरर्थक है, क्योंकि वह केवल आत्म-सन्तोष की वस्तु है, वहां दुनिया, जिसे असफलता कहती है उससे निराश, दुखी, हतोत्साह या दुनिया के प्रति अनुदार होने की भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य जो हिसाब लगाता है, वह सच पूछिए तो अपने लिए लगाता है, अतः अपनी सफलता-असफलता का उत्तर, यदि वह सही-सही मिल सकता

हो तो खुद अपने अन्दर से ही मांगना चाहिए। दुनिया तो आखिर ऊपरी बातों को देखती है, ऊपरी परिवर्तन, सुधार-बिगाड़, उन्नति-अवनति का लेखा वह रख सकती है, लेकिन आपमें भीतरी क्या हानि-लाभ हुआ है, आपको मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक क्या लाभ-हानि हुई है, सफलता-असफलता मिली है, इसका अन्दाज सहसा उसे नहीं हो सकता। लेकिन आपको, यदि आप आत्म-निरीक्षण के अभ्यासी हैं, एक साधक, सिपाही, शिष्य या विद्यार्थी का-सा जीवन आपने अपना मान या बना रखा है, जरूर उसका ज्ञान व अनुभव हो सकता है। यों भी आज नहीं तो कल संसार को आखिर वही बात माननी होगा जो मेरे दिल में से उठी है, क्योंकि वैसा ही मेरा सतत प्रयत्न रहेगा और बहुत-कुछ वैसा ही असर समाज या संसार में उसका दीख पड़ेगा। जो हो; मैंने अपनी हैसियत एक साधक या सिपाही की—आत्मिक जगत् का साधक, राष्ट्रीय जगत् का सिपाही—मानी है, अतः मैंने एक सिपाही के नाते यह अंदाज बांधा था कि यदि १०० अच्छे कार्यकर्त्ता गांधीवादी राजस्थान में बन जायं, १०० अच्छी पुस्तकें सस्ता मंडल से निकल जांय, 'मालव-मयूर' स्वावलम्बी हो जाय, खादी की जितनी उत्पत्ति राजस्थान में होती है, वह वहां बिकने लगने जाय, इतनी राजनैतिक जागृति प्रान्त में हो जाय कि कांग्रेस का अधिवेशन हो सके व पूज्य बापू का एक दौरा राजस्थान में कराया जा सके तो अपना राजस्थान आना सफल हो जायगा। आत्मिक-साधक के नाते सत्य व अहिंसा की ही साधना मैंने अपने सामने रखी थी। अब तो कुछ समय से अद्वैत-साधना भी उसमें जुड़ गई है। अहिंसा में मैंने यह आदर्श सामने रखा था कि द्वेष, क्रोध व प्रतिहिंसा का भाव भी मन में न पैदा हो। द्वेष का अभाव तो मैं पहले से ही अपने अन्दर अनुभव करता हूं; परन्तु क्रोध जरूर आ जाता था, अब भी झल्लाहट बाज-बाज मौके पर व बाज-बाज व्यक्तियों के सामने आ ही जाती है। अतः मैंने सामान्यतः अब यह परीक्षा अपनी अहिंसा-प्रगति की मानी है कि उन अवसरों व उन व्यक्तियों के संपर्क या सहवास में

जब झल्लाहट भी न आवे तब समझ लूंगा कि अहिंसा में ठीक प्रगति हुई है। द्वेष के लिए मैंने एक मित्र को अपने सामने रखा है, जब वे यह मानने लग जावेंगे कि मैं उनका मित्र ही हूं, तब मैं समझ लूंगा कि मेरे मन में से द्वेष सचमुच हटा हुआ है। जब मुझ पर कोई हमला या प्रहार करता है, कटु या' तीव्र आलोचना करता है, नीयत को बुरा बताने लगता है, किसी की चुगली या निन्दा मेरे सामने करता है, तो मुझे एक दम तैश आजाता है, उसमें कुछ बुरा-भला भले ही कह बैठता हूं; परन्तु इसके लिए प्रतिहिंसा को, सामने वाले को दुःख या कष्ट पहुंचाने या दण्ड देने की इच्छा नहीं होती। कुछ तो पहले से ही ऐसे संस्कार हैं, व बाद को अहिंसा की साधना ने बुद्धिपूर्वक इस खराबी से बचना सिखाया है।

सत्य की साधना में मैंने मुंह से व विवाद में भी झूठ न निकलने देने का आदर्श सामने रखा है। जो मन में हो वही कहें, जो कहें वही करें—इसका भी ध्यान रखा है। परन्तु मन या बुद्धि जो जानती है, जो समझती है, उसे ज्यों-का-त्यों कहने और डंके की चोट कहने की हिम्मत अभी नहीं आई है। आचरण में भी बहुत बार शिथिलता आ जाती है व च्युति के अवसर भी आ जाते हैं। अद्वैत-सिद्धि तो सत्य व अहिंसा की पूर्ण साधना का ही फल है—उसे प्रत्यक्ष रूप से सामने रख लेने से एक आध्यात्मिक सत्य या आदर्श हृदय में सदैव जाग्रत रहने लगता है।

जहां तक सिपाही की स्थिति वाले कार्यक्रम से सम्बन्ध है, अभीतक सभी मदें अधूरी हैं और उसकी पूर्ति के लिए काफी प्रयास की आवश्यकता है। इसी धुन व प्रयास में मैंने अपना स्वास्थ्य खोया है, कुछ मित्रों को नाराज किया है, जिनकी यह शिकायत है कि अपनी आयु के अच्छे से अच्छे दिन खोकर भी मैंने यहां अपनी मट्टी पलीद करवाई है,परन्तु इस हानि के बावजूद मुझे अपनी अन्तरात्मा में बहुत सन्तोष है कि मैं अपने लक्ष्य से न तो डिगा ही हूं, न थका या हारा ही हूं। इसका कारण यह है कि मैं अपने हर कार्य के अन्त में यह हिसाब लगाता हूं कि इसमें मैंने

क्या खोया व क्या कमाया ? कमाई में भी मैं नैतिक व आध्यात्मिक कमाई को ज्यादा महत्त्व देता हूं। यही कारण है जो मैं कभी-कभी नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से व्यावहारिक कार्यों की उपेक्षा कर जाता हूं और मित्रों से 'मूर्खता' का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेता हूं। चूंकि मेरा सच्चा सामुदायिक सेवा-जीवन राजस्थान में आने के समय से ही शुरू होता है, मैंने यह ठीक समझा कि मैं अपने तत्सम्बन्धी आदर्श का चित्र भी पाठकों के सामने रख दूं जिससे वे यहां की घटनाओं व कार्यावलियों को उसके प्रकाश में देख व समझ सकें।

बिजोलिया जाने पर जहां वस्त्र-स्वावलम्बन-कार्य ने मुझे आकर्षित किया, तहां, वहां की किसान-पंचायत व उसके स्थानिक सलाहकार श्री माणिकलालजी वर्मा ने भी आकर्षित किया। बिजोलिया वास्तव में ही भाग्यवती भूमि है। परमार वंश के रावजी का शासन वहां है। पथिकजी जैसे क्रान्तिकारी भावनाओं वाले पुरुषार्थी वहां पहुंचे। उनके त्यागशील देश-भक्त मित्रों व साथियों ने उसे जगाया व पंचायत की स्थापना द्वारा संगठित किया। फिर ठिकाने के लोगों व अबवाबों के लिए बड़ी लड़ाई लड़ी, जिसमें बहुत कामयाबी हुई। उसके बाद श्री जेठालाल भाई जैसे सेवा-भावी प्रणवीर वहां पहुंचे, माणिकलालजी जैसे सच्चे सेवक व नेता वहाँ उत्पन्न हुए, जमनालालजी जैसे प्रतापी नेता ने उसे अपनाया, ये सब उसके भाग्यशाली होने के ही लक्षण हैं। इस यात्रा में मैंने किसान-पंचायत व किसानों की वर्त्तमान समस्या का भी थोड़ा अध्ययन कर लिया। हमारी यही यात्रा निमित्त बनी है आगे किसान-पंचायत से मेरा सम्बन्ध स्थापित करने में।

जब किसानों ने देखा व पथिकजी ने भी अनुभव किया कि पंचायत की रीति-नीति में परिवर्तन हुए बिना यह समस्या हल नहीं हो सकती, तब किसान-पंचायत की ओर से जमनालालजी के सामने यह समस्या हल के लिए रखी गई। उन्होंने कहा, यदि पंचायत गांधी-नीति पर चलना चाहे तो मैं दिलचस्पी ले सकता हूं और तभी इसका हल मेरे द्वारा

निकल भी सकता है। पंचायत ने इस स्थिति को मंजूर किया, पथिकजी ने खुद पंचायत को अपना इस्तीफा भेजा व पंचायत की इच्छा तथा जमनालालजी की सलाह से मेरा नाम पंचायत के सलाहकार की जगह रखा गया। तब मैंने जाकर वहां सारे प्रश्न का अच्छी तरह अध्ययन किया व फिर राज्य से समझौते का प्रयत्न किया। निश्चय ही जमनालालजी इसमें मेरे पथ-प्रदर्शक रहे। जब तक वे जीवित रहे, राजस्थान में उन्हें ही मैंने अपना पथ-प्रदर्शक माना था। अब भी उनकी आत्मा से प्रेरणा व उनके जीवन-कार्यों से प्रकाश पाता रहता हूं। जहां नैतिक व सैद्धांतिक विषयों में पूज्य बापूजी मेरे पथ-दर्शक हैं तहां व्यावहारिक समस्याओं में जमनालालजी पथ-प्रदर्शक रहे हैं।

बिजोलिया उदयपुर राज्य का ठिकाना है। जागीर नहीं, पहले स्वतंत्र राज्य था, पीछे उदयपुर में शामिल कर लिया गया। नीमच स्टेशन (मालवा) से कोई ५५ मील पूर्व की ओर 'ऊपर माल' नामक पठार पर बसा हुआ है। इसकी आबादी १५००० के लगभग है जिसमें १०,००० से ऊपर किसान हैं। लगान के अलावा कई तरह की लगभग ८० किस्म की, बेजा लागें इन पर लगती थीं। यों तो किसान लोग अर्से से अपनी तकलीफें मिटाने की कोशिश कर रहे थे। परन्तु श्री पथिकजी ने जाकर उनमें जागृति व ठोस संगठन किया। कोई आठ वर्ष के आंदोलन और चार वर्ष के सत्याग्रह (लगान बन्दी) के बाद ७ फरवरी १९२२ को राजपूताना के ए० जी० जी० मि० हालैण्ड के रोबरू ठिकाने व किसानों के बीच एक समझौता हुआ, और दूसरी कई शर्तें तय पाईं, कई लागें उठा दी गईं।

इस समझौते से यह तय पाया था कि नया बन्दोबस्त १ अक्टूबर, १९२२ में शुरू होजाय। इससे पहले 'लाटा-कूता' (अर्थात् पैदावार का एक अंश, जो प्रतिवर्ष तय हो जाया करता था) का रिवाज था। इस शर्त के अनुसार मेवाड़-राज्य के बंदोबस्त के हाकिम मि० ट्रेंच की देख-रेख में बंदोबस्त हुआ। उसमें किसानों को आम तौर पर यह शिकायत

रही कि जमीन पर खासकर माल (Non-irrigated) जमीन पर लगान बढ़ा दिया गया। उनका कहना था कि १६२२ के फैसले के बाद लगान ४२,६५५) लिया जाता था। सो नये बंदोबस्त में वह ५३,२४७) होगया। अर्थात् १०, २६२ की वृद्धि हुई। किसानों को इस बढ़ती की खास शिकायत थी। दूसरे 'छट्टूंद' नामक एक लाग किसानों को देना पड़ता था। बिजौलिया के रावजी उदयपुर रियासत को जो कर देते हैं वह ठिकाने की आमदनी का छठा हिस्सा होता है, इसलिए 'छट्टूंद' कहलाता है। १६२२ के फैसले की शर्त के अनुसार वह २,२२५ रु० लिया जाना चाहिए, परन्तु बंदोबस्त के बाद वह ३,६६०) अर्थात् फी आना रुपया कर दिया गया। किसानों की मांग थी कि वह कम किया जाय और समझौते के अनुसार लगान में शामिल कर दिया जाय, अलग न लिया जाय।

१६२२ के फैसले के बाद दो-एक साल फसलें गल गईं थीं, किसान उनकी माफी चाहते थे। सरकार ने लगान स्थगित कर दिया था, माफ नहीं किया था।

समझौते के अनुसार ३०) मासिक जो किसान-पञ्चायत को मिलना चाहिए था, वह बंद कर दिया गया।

बंदोबस्त संवत् १६८३ में हुआ। लगान-वृद्धि के कारण किसान पट्टे लेना नहीं चाहते थे। राजवालों ने कहा—यह खिलाफ कानून है, पट्टे लेकर अपना उज्र करो। तदनुसार उन्होंने दरख्वास्तें दीं और अपना आमदनी-खर्च का हिसाब भी पेश किया। कोटा की रेट स्वीकार करने की उन्होंने इच्छा प्रदर्शित की। कोटा में जिस जमीन का रेट ६) बीघा थी उसीका बिजोलिया में ८) बीघा लगाया गया था। कोटा बिजोलिया का पड़ौसी राज्य है। पर राज्य में उनकी सुनवाई नहीं हुई। तब किसानों ने लगान-वृद्धि तथा दूसरी तमाम शिकायतों के विरोध में उनके तत्कालीन सलाहकार श्री पथिकजी की सलाह से, उन शिकायतों के दूर होने तक, माल जमीन का इस्तीफा देदिया। इस्तीफा पेश करने के

समय ट्रेंच साहब ने किसानों से कहा था कि तुम ऐसा मत करो, जमीनें फिर वापिस नहीं मिलेंगी। महकमे खास में अपील करो, उसे बंदोबस्त बदलने का अधिकार है। पर किसानों को उनके आश्वासन पर भरोसा न हुआ। माल जमीन कुल ८०,००० बीघे थी जिसमें ६०,००० बीघे का इस्तीफा दे दिया गया था। ३८९९ किसानों ने इस्तीफे दिये। राज ने इस्तीफे मंजूर कर लिये और दूसरे लोगों से जमीनें जुतवाने की कोशिशें कीं। कहीं लालच और कहीं धमकी व सख्ती के बल पर कुछ जमीनें राज ने दूसरों को दे दीं और कुछ का तो पट्टा भी कर दिया। पट्टा करा लेने वालों में विशेषतः राज-कर्मचारी, महाजन, और बलाई (हरिजन) लोग थे।

जब जमनालालजी बिजोलिया गये तो ट्रेंच साहब ने उनसे कहा था कि बिजोलिया के इस झगड़े में दिलचस्पी लेकर आप इसे मिटवा दें। उन्होंने उनके सामने अपनी यह नीति स्पष्ट की थी कि यदि अधिकारी व किसान दोनों चाहें तो मुझे दिलचस्पी लेने में कोई आपत्ति नहीं है। किसानों ने भी उनको सहायता चाही व किसान-पंचायत ने बाद में मुझे जोर देकर लिखा भी कि हमें इस समय आपकी मदद की सख़्त जरूरत है। तब श्री जमनालालजी की सलाह से मैं बिजोलिया गया व महसूस किया कि यदि किसानों की इस समय सहायता न की गई तो उनका पंचायत का सङ्गठन भी टूट जायगा व लोग निराश हो जायंगे। कोई उपाय न देख वे एक बार सत्याग्रह कर डालने की सोच रहे थे। जब पंचायत ने मुझे बाजाब्ता अपना सलाहकार चुन लिया व राज को भी इसकी इत्तला दे दी तो मैंने उन्हें सलाह दी कि अधिकारियों से मिल-जुल कर पहले समझौते का यत्न करना चाहिए व तबतक सत्याग्रह या लगानबंदी की बात स्थगित कर देनी चाहिए।

फिर मैं ठिकाने के रावजी, कामदार तथा मेवाड़ राज्य के बंदोबस्त हाकिम मि० ट्रेंच से मिला। ट्रेंच साहब से मेरा परिचय नहीं था। जमनालालजी ने उदयपुर में चलते-चलते यों ही नाममात्र का परिचय

कराया था। मैं जब उदयपुर पहुंचा तो श्रीमोहनसिंहजी मेहता मिलने आये, जो उस समय ट्रेंच साहब के सहायक अधिकारी थे। उन्होंने पूछा—ट्रेंचसाहब से आपका परिचय है ? मैंने कहा—'नहीं के बराबर'। उन्होंने कहा—मेरी स्थिति बड़ी नाजुक है, मैं उन्हींके सहायक पद पर हूं। मैंने कहा, आपसे जिक्र निकल पड़े तो इतना जरूर कह दीजिए कि गांधीवादी हैं और उन्हींकी पद्धति पर देशी-राज्यों में काम करने के हामी हैं। जमनालालजी के आदमी हैं, यह भी ठीक समझें तो कह दीजिए।

मुझे बिजोलिया के कार्यकर्त्ताओं व किसानों के मुखियाओं ने कह रखा था कि ट्रेंच साहब का भरोसा नहीं। आप जो कुछ बात करें वह पक्की करें—ऐसा न हो कि पीछे धोखा होजाय। हम भुगत चुके हैं।

ट्रेंच साहब बड़ी अच्छी तरह मिले। मैंने उन्हें बताया कि किस तरह किसान-पंचायत की रीति-नीति में परिवर्तन होगया है, वह अब महात्माजी की लाइन पर चल रही है। मैं उनका बाजाब्ता सलाहकार हूं, आपसे जो कुछ तय हो जायगा उसे उससे मनवा सकूंगा, ऐसी स्थिति में हूं। वे सब तरह से निराश होकर फिर सत्याग्रह की सोच रहे हैं। मैंने उन्हें समझाया है कि महात्माजी का तरीका यह है कि पहले समझौते का हर तरह प्रयत्न कर लेना चाहिए, जब सम्मानपूर्ण समझौता किसी तरह सम्भवनीय न हो तब और तभी सत्याग्रह का अवलम्बन करना चाहिए। यद्यपि उन्हें अब समझौते की भी कोई आशा नहीं रही है तो भी उन्होंने मुझे एक मौका देने का निश्चय किया है जिसके फल-स्वरूप मैं आपसे मिलने आया हूं। यदि आप वहां शांति चाहते हैं, तो उसके लिए यह अच्छा अवसर है और आप मेरी शक्ति व प्रभाव का उपयोग वहां शांति-स्थापना में कर सकते हैं।

खुद रावजी व कामदार तो सुलह के पक्ष में थे ही, पर मेवाड़-राज्य की अनुमति के बिना वे कुछ नहीं कर सकते थे, अतः मैंने ट्रेंच साहब पर उनकी भावनाएं भी प्रकट कीं व कहा कि अब यदि समझौता न हो पाया तो इसकी जिम्मेदारी मेवाड़-राज्य पर रहेगी। तब ट्रेंच साहब ने कहा—

'हम भी बिजोलिया में सुलह चाहते हैं, फिर से उसे तूफान का केन्द्र नहीं बनने देना चाहते।'

'तो मैं भी किसानों की तरफ से आपको आश्वासन देना चाहता हूं कि वे भी तभी सत्याग्रह का अवलम्बन करेंगे जब मैं समझौते के प्रयत्न में हर तरह विफल हो जाऊंगा। मैं भी उनकी तरफ से शांति का ही पैगाम लेकर आपके पास आया हूं।'

अब समझौते की शर्तों पर बातचीत चली।

: ३० :

बिजोलिया-समझौता

मैंने किसानों से ज्यादा-से-ज्यादा शर्तें मांगी व कम-से-कम प्राप्ति पर सन्तोष कर लेने की स्वीकृति ले ली थी। उन्होंने कह दिया था कि यदि जमीनें भी सम्मानपूर्वक वापिस मिल जायं तो हमें सन्तोष होगा। मैंने अधिकतम शर्तें ट्रेंच साहब के सामने रखीं—

(१) लगान चौथाई कर दिया जाय या फिर से बंदोबस्त किया जाय।

(२) इसी हिसाब से कसरात व बकायात कर दी जायं।

(३) रोली की फसल की छूट १२ आना दी जाय।

(४) छट्टूंद १९२२ के फैसले के अनुसार रहे और वह लगान में शामिल कर दिया जाय, अलहदा न रहे।

(५) लगान व कसरात की छूट-बंदोबस्त के शुरूआत से दी जाय।

(६) गलत फसल के लिए, फसल खराब हो तो, आठ आने तक छूट मिलनी चाहिए।

(७) इस्तीफाशुदा जमीनें वापिस लौटाई जायं।

(८) १९२२ के फैसले की जो शर्तें तोड़ी गई हैं उनकी पूर्ति की जाय।

इसके पहले बातचीत के सिलसिले में ट्रेंच साहब मुझ से पूछ बैठे—किसानों का मेरे बारे में क्या कहना है? मेरे मुंह से हठात् निकल पड़ा—'किसान आपको धोखेबाज समझते हैं। उन्होंने मुझे चेतावनी देकर भेजा

है कि ट्रैंच साहब मिठ-बोले आदमी हैं, उनके जाल में कहीं फंस मत जाना।' मेवाड़ में शायद ही इतना स्पष्ट व खरा जवाब उनको किसी से मिला हो। एक यूरोपियन और फिर ऐसा हाकिम, जिसका मेवाड़ के शासन पर सर्वाधिक प्रभाव हो, उसकी शान में ऐसा कहने की कौन हिम्मत कर सकता था? उन्होंने शायद इतने साहस की मुझसे उम्मीद भी न की होगी। वह फक होकर मेरा मुंह देखने लगे। तब मैंने सोचा कि इस जवाब से कहीं अपना काम बिगड़ न जाय? मैंने बात संभालने के लिए तुरन्त कहा—'लेकिन यह तो उनकी राय है। मैंने अभी तक इस पर कोई राय कायम नहीं की है। मैं तो अपने ही अनुभव से किसी के बारे में राय बनाता या बिगाड़ता हूं। मेरा आपसे यह पहली बार ही साबका पड़ा है। जैसा अनुभव होगा वैसी ही राय बनाऊंगा। आपने पूछा तो मैंने किसानों की राय बता दी। इससे आप यह भी समझ सकेंगे कि मेरा काम कितना मुश्किल है और आप ही से उसे सरल बनाने की मैं आशा कर सकता हूं। आप जो कुछ कह या कर देंगे, मेवाड़ में वही हो जायगा—ऐसा भी आपके प्रभाव के बारे में मुझ से उन्होंने कहा है। अतः सारा दारोमदार आप पर ही है, किसानों के हृदय को जीतने का भी यह अच्छा अवसर आपके लिए है।'

इससे उनके चेहरे का भाव कुछ बदला। बोले—'मैंने तो किसानों को सदा नेक ही सलाह दी है, उनका भला ही चाहा व किया तथा अब भी उनमें शांति ही चाहता हूं। जो भी वाजिब मांगें होंगी उन्हें जरूर पूरा कराने की कोशिश करूंगा व सही तकलीफें होंगी उन्हें भी दूर करने का उद्योग करूंगा। मैंने किसानों को कितना समझाया कि इस्तीफा मत दो, महकमे खास में अपील करो, एक दफा जमीन तुम्हारे हाथ से निकल जायगी तो फिर बहुत मुश्किल पड़ेगी; पर उन्होंने एक न मानी। उनके सलाहकारों ने उन्हें डुबो दिया। अब कितनी ही जमीन बापी पर दे दी गई—पट्टा कर दिया गया—लेने वालों ने हमसे कहा कि आप किसानों से दबकर फिर हमसे जमीन छीन लेंगे व उन्हें दिला देंगे। तब

हमने ऊपर से उन्हें और आश्वासन दिया कि नहीं ऐसा हरगिज नहीं होने दिया जायगा। अब बताओ, वह जमीन कैसे वापिस ली या दी जा सकती है ?'

'उनका इस्तीफा आपने मंजूर कर लिया, यही आपकी सबसे बड़ी गलती थी। आप सोच सकते थे कि किसान इस्तीफा देकर शांत नहीं बैठने वाले हैं। इस्तीफा भी उन्होंने शर्तों के साथ व विरोध-स्वरूप दिया है। सब तरह से निराश होकर दिया है। आपको चाहिए था कि आप उनकी शिकायतों को दूर करते, बजाय इसके कि इस्तीफा मंजूर कर लेते। पुश्तैनी जमीन, जिन पर उनके बाल-बच्चों का सारा दारोमदार है, वे कैसे आसानी से छोड़ देंगे ! और वे किसान भी मामूली नहीं लड़वैये हैं; उनमें अच्छा सङ्गठन है, मेवाड़-राज्य से टक्कर ले चुके हैं और उसमें कामयाब हुए हैं, हर टक्कर में उन्होंने कुछ-न-कुछ कामयाबी हासिल की है, ऐसी दशा में आपको इस्तीफा मंजूर करने से पहले सौ दफा सोच लेना चाहिए था। आपने उन्हें तो समझाया कि जमीन फिर वापिस नहीं मिलेगी पर अपने को भी तो समझाया होता कि झगड़े की जमीन है, देने-लेने वाले सब मुसीबत में पड़ेंगे। अब इस मुसीबत की जिम्मेदारी से आप कैसे बच सकते हैं ? क्या आप मानते हैं कि जमीन दिये बिना किसानों में कभी शांति स्थापित हो सकती है ?'

'नहीं, यह तो मैं भी मानता हूं।'

'तो फिर इसका कोई रास्ता आप ही भली प्रकार निकाल सकते हैं।'

मुझे जहां तक याद है बिना बापी की जमीन लौटा देने का आश्वासन तो शायद रावजी साहब व उनके कामदार ने भी दे दिया था—बापी वाली यानी पट्टे वाली जमीन की ही असली दिक्कत थी। ट्रेंच साहब ने भी कहा कि बिना बापी की जमीन तुरन्त लौटवा दूंगा। बापी वाली के बारे में सोचना पड़ेगा।

बन्दोबस्त वाली शर्त पर उन्होंने कहा—'बन्दोबस्त में कोई गलती नहीं हुई है, तब दुबारा कैसे किया जाय ?'

'तो चार आना लगान कम कर दीजिए।'

'इससे राज्य की तोहीन होगी, विना खास कारण के इतना लगान कम भी कैसे किया जाय ?'

'कारण क्या ? क्या आप मानते हैं कि किसानों की माली हालत बहुत बिगड़ नहीं गई है ? जमीन उनके हाथ से निकल गई। कसरात, बाकियात उनके सिर पर हुई है व बढ़ती जाती है। फसल भी तो खराब होती रही, जिसकी छूट उन्हें नहीं मिली—क्या ये कारण लगान में छूट देने के लिए बस नहीं है ? यदि इसमें भी आपको दिक्कत मालूम हो तो फिर से बन्दोबस्त क्यों नहीं करवा देते ? आपकी भी स्थिति अच्छी रहेगी व किसानों को भी सन्तोष हो जायगा।'

'जितना रुपया फिर बन्दोबस्त में खर्च होगा उतना किसानों को क्यों न दिला दिया जाय ?'

'तो फिर लगान में कमी करा दीजिए। जो अधिक सुविधाजनक हो वही कर दीजिए। मैं आपकी कठिनाइयों को भी समझ सकता हूं और इसलिए किसी अधिक कठिन बात पर जोर देना नहीं चाहता।'

'अच्छा यदि लगान में एक आना कमी करा दी जाय व इतना रुपया और तरह से छूट में दिला दिया जाय जो तीन आना लगान कमी कर देने के बराबर हो तो आपको कोई आपत्ति है ?'

'यदि कुल मिलाकर चार आना लगान में छूट हो जाने के बराबर हो जाय तो मैं किसानों को समझा सकूंगा।'

तब नीचे लिखे अनुसार समझौते की शर्तें तय पाई। यह दो-तीन चार की मुलाकातों का फल था—

(१) ठिकाने से किसानों को इस बात का यकीन दिलाया जाय कि १६२२ के फैसले की शर्तें न तोड़ी जायंगी, और जो टूटी होंगी उन की पूर्ति करा दी जायगी।

(२) 'छटूंद' लगान में शामिल कर दिया जाय और लगान में

एक आना फी रुपया कमी कर दी जाय और कसरात-बाकियात में ५० फी सदी छूट दे दी जाय।

(३) जो जमीन ठिकाने के कब्जे में है वह तुरन्त लौटा दी जाय और बापी (पक्का पट्टा) पर दी गई जमीन बापीदारों से खानगी में कह-सुनकर लौटा दी जाय।

इस आखिरी शर्त को पूरा करने की जिम्मेदारी ट्रेंच साहब ने ली थी। उन्होंने कहा—'जाब्ते से ये जमीनें नहीं छीनी जा सकतीं। आप यह तो मानेंगे कि हमें अपने वचनों का पालन करना ही चाहिए। मगर इनमें आपस में समझौता कराके जमीन वापिस दिला दी जायगी।'

'मैं भी मानता हूं कि आप जाब्ते से उसे वापिस नहीं ले सकते, न लेनी भी चाहिए। जो वचन दिया गया है, उसका पालन अवश्य होना चाहिए। हमारा मतलब तो जमीन वापिस मिलने से है। जब तक वह वापिस न मिलेगी, न किसानों में शांति रहेगी न बापीदार ही शांति की नींद ले सकेंगे। अतः उनकी भी शांति इसी पर निर्भर करती है कि वे जमीनें उनके असली मालिकों को लौटा दें। यह तो आप जानते ही हैं कि जमीनें प्रलोभन, डांट-धमकी दबाव से इन लोगों को दी गई हैं व इन्होंने ली हैं।'

'लेकिन बापी के लिए इन्हें नजराना जो देना पड़ा है।'

'नजराने के बारे में किसानों से समझौता कराया जा सकता है।"

'तब तो जमीनें मिलने में ज्यादा दिक्कत न होगी; फिर भी, अभी तो मुश्किल ही दीखता है।'

'आपकी कोशिश पर सब कुछ मुनहसिर है।'

इसके अनुसार और सब शर्तों का पालन होगया। सिर्फ बापी वाली जमीन रह गई थी। इसका किस्सा लम्बा चला। अन्त को १९३१ में किसानों को इसके लिए सत्याग्रह करना पड़ा। फिर भी जमनालालजी ने बीच में पड़कर समझौता कराया। उसके बाद अभी कोई २-३ साल पहले वे सब जमीनें उन किसानों को मिल पाईं। जाब्ते व कानून

से देखा जाय तो जिसका इस्तीफा किसानों ने खुद दे दिया व जिसका पट्टा दूसरों को कर दिया गया उसका वापिस मिलना असंभव ही था। जिसके भी सामने यह केस जाता वही कहता कि किसानों ने बड़ी भूल की, अब यह जमीन कैसे वापिस मिल सकती है? जमनालालजी भी यही मानते थे; परन्तु सब इस बात को भी महसूस करते थे कि बिना जमीन मिले किसानों में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इस असली सच्चाई ने कानून व जाब्ते पर विजय पाई। यदि इस तरह खुद ब खुद इस्तीफा दे देने के बजाय किसान लगान देना बन्द कर देते, व जमीन अपने ही कब्जे में रख लेते तो यह बात इतनी उलझती नहीं, व उन्हें इतने लम्बे अरसे तक कष्ट न भुगतने पड़ते।

मेरी समझ से अत्यन्त निराशाजनक परिस्थिति में भी इतनी सफलता मिल जाने के नीचे लिखे कारण हैं—

(१) किसानों की दृढ़ता कि जमीनें जल्दी न मिलीं, व बन्दोबस्त-संबंधी कष्ट न दूर हुए तो हम 'सत्याग्रह' करेंगे, दब कर बैठ नहीं जायंगे।

(२) किसान-पंचायत की रीति-नीति में परिवर्तन करके सत्य-नीति का अवलम्बन करना।

(३) यह हकीकत कि समझौता हुए बिना किसानों में शान्ति न होगी—व इसका सब पक्ष वालों में एहसास।

(४) समझौते की बातचीत के सिलसिले में दिखाई गई किसानों की तरफ से एक ओर दृढ़ता व दूसरी ओर सद्भावना की स्पिरिट।

जीवन में संघर्ष व समझौता दोनों के लिए समान स्थान है। समझौता जीवन की वृत्ति है व संघर्ष जीवन का नियम है। जब समझौता नहीं हो पाता है तो संघर्ष छिड़ता है। जो समझौते की उपेक्षा करके संघर्ष करता है या करता रहता है वह जीवन से बिछुड़ जाता है।

मुझे एक विश्वसनीय मित्र ने कहा था कि ट्रेंच साहब का कहना है हरिभाऊ बन्दोबस्त के बारे में तो कम जानकारी रखता है, परन्तु उसकी

सच्चाई का मेरे हृदय पर गहरा असर हुआ है। उसकी सच्चाई तकाजा करती है कि किसानों की तरफ से वह जो कुछ कहे पूरा कर दूं।' मुझे उनके इन इशारों में अहिंसा की विजय-ध्वनि सुनाई पड़ती है।

: ३१ :

कांग्रेस में प्रवेश

एक या दो वर्ष के बाद मैं चरखा-संघ से निकलकर 'गांधी-सेवा-संघ' में शामिल हो गया। चरखा-संघ के कर्मचारी की हैसियत से मेरा अधिकांश समय खादी-कार्य में ही लगना चाहिए था। परन्तु सस्ता-मंडल, इंदौर, उज्जैन के मजदूर-कार्य, बिजोलिया का किसान-कार्य आदि विविध प्रवृत्तियों में समय जाने लगा। अतः मैं गांधी-सेवा-संघ का सदस्य हो गया।

शायद १६२७ व २८ में एक रोज हटूंडी आश्रम में श्री अर्जुनलाल सेठी व श्री दुर्गाप्रसाद आये। सेठीजी शायद प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री व दुर्गाप्रसादजी या तो नगर कमेटी के मंत्री या प्रधान थे। सेठीजी ने मुझसे कहा, 'उपाध्यायजी, अब तो आप यहाँ जम गये हैं। मण्डल, चरखा संघ, आश्रम, तथा दूसरी प्रवृत्तियों के द्वारा अपना काम आप जमा रहे हैं। अतः अब कांग्रेस की तरफ भी ध्यान दीजिए। आप चाहें तो हम आपको इसका सभापति बना सकते हैं और आपकी सलाह से ही सब काम-काज करेंगे।' सेठीजी के पहले-पहल दर्शन मैंने इंदौर में किये थे जब कि वे मद्रास की किसी—शायद बेलारी—जेल से छूट कर आये थे और एक बहुत बड़े जलूस के द्वारा उनका स्वागत वहां किया गया था। मैंने बड़े ही भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम किया था और राजस्थान के पहले वीर के दर्शन करके मैं गद्गद् हो गया था। उस समय क्या पता था कि इन्हीं सेठीजी से भिडन्त का मौका आगे जाकर आ जायगा। आज तो

सेठीजी मुझे अपनाने के लिए आये थे। मुझपर स्नेह भी रखते थे। मैंने जवाब दिया—'मुझे रचनात्मक काम प्रिय है और उसीमें अपनी शक्ति लगाना चाहता हूं, व थोड़ी-बहुत लगा भी रहा हूँ। यह भी कांग्रेस का ही काम है, ऐसा आप मानिए। कांग्रेस-कार्य के दो विभाग हैं, एक शासनात्मक, दूसरा रचनात्मक; पहले को आप संभाल रहे हैं, दूसरे को मैं संभाल रहा हूं—ऐसा ही आप समझिए। इससे आपकी-हमारी दोनों शक्तियों का सदुपयोग होगा; वे परस्पर-पूरक हो रहेंगी। यदि मैं सीधा कांग्रेस में आ गया तो आपकी-मेरी शक्तियां टकराती रहेंगी; क्योंकि आप एक स्वतंत्र नेता हैं, मैं महात्माजी का एक नम्र अनुयायी व सिपाही। मुझे उनके आदर्श, आदेश व नियमों के अनुसार ही काम करना होगा, आप जैसे स्वाधीन नेता के लिए यह संभव नहीं है कि उनका अनुगमन करें। अतः हमारी आपस में खींचातानी होती रहेगी। फिर मेरी कोई ऐसी महत्त्वाकांक्षा भी नहीं है। अतः आपके प्रस्ताव को स्वीकार करने में मुझे ऐसा लगता है कि सब तरह अहित ही होगा।

मगर बाबाजी चाहते थे कि क्यों न कांग्रेस को यहां पुनर्जीवित किया जाय? मेरे आने से पहले ही वे व राहतजी (श्री क्षेमानंद 'राहत') एक बार ऐसा उद्योग कर भी चुके थे। इत्तफाकसे, कलकत्ता-कांग्रेस(१६२६) में सेठीजी पर बेजा तौर पर कांग्रेस के टिकट बेचने का आरोप लगा व प्रांतीय तथा अजमेर कांग्रेस कमेटी तोड़ दी गई और नये चुनाव का आदेश हुआ। इन दिनों मैं भी कलकत्ता गया हुआ था। वहां एकाएक पुष्कर के श्री सोहनलाल मिले जिन्होंने मुझसे टिकट बेचने का किस्सा बताया व कहा कि पं० जवाहरलालजी पूछते थे कि अब वहां किसके भरोसे कमेटी बन सकती है, तो मैंने आपका नाम ले दिया। मैं बिगड़ा कि 'मुझसे बिना पूछे क्यों मेरा नाम ले दिया। मैं तो ऐसे किसी झगड़े में पड़ना नहीं चाहता। अगर कमेटी ही मुझे लेनी होती तो सेठीजी खुद मुझे देने आये थे, लेकिन मैंने इन्कार कर दिया। आपने यह अच्छा नहीं किया।'

'मैंने तो प्रांत के हित में जो अच्छा समझा वही सुझा दिया।'

जैसे ही कमेटी टूटने की खबर अजमेर पहुंची, बाबाजी आदि मित्रों ने, मेरे वहां पहुंचने से पहले ही, चुनाव लड़ना व उसके लिए मुझे आगे करने का निश्चय कर लिया। जब मुझे मालूम हुआ तो मैंने बाबाजी से कहा कि, इसमें मेरी न तो रुचि है, न योग्यता ही ऐसे कामों में पड़ने की है; अतः मुझे दूर रख के ही आप इस काम को चलाइए।

'तो क्या आप इसे अनुचित व बुरा समझते हैं।'

'नहीं अनुचित व बुरा तो नहीं है; पर मैं इस योग्य अपने को नहीं मानता।'

'तो यदि यह काम बुरा नहीं है, और आपके साथी या मित्र उसे करना चाहते हैं तो क्या आप उनकी मदद न करेंगे? यह आपका कर्त्तव्य नहीं है?'

'कर्त्तव्य भी हो सकता है, व मदद भी करनी चाहिए, परन्तु अपनी योग्यता को देखकर ही।'

'तो हम आपसे सिर्फ इतनी ही मदद चाहते हैं कि आप चुनाव कमेटी के सभापति बन जाइए। हम पर अंकुश रखिए—हमसे कोई गलत काम मत होने दीजिए। बाकी काम सब हम लोग कर लेंगे। आपको बिलकुल तकलीफ न होने देंगे।'

'यह तो मैं बाहर रह कर भी कर सकूंगा।'

बाबाजी—'नहीं, मैं कमेटी में ही व सभी ऐसी जगह जहां से आप अधिकारी रूप से हमें रोक सकें, आपको चाहता हूं।'

बाबाजी तो दृढ़ संकल्प कर ही चुके थे। उनका स्नेहाग्रह तोड़ना भी मेरे लिए कठिन था। 'अंकुश' वाली बात का महत्त्व भी मैं समझता था; अतः मैंने कहा—

'तो पहले ऐसा कीजिए कि अजमेर व ब्यावर के सभी सार्वजनिक क्षेत्र के मित्रों से इस बारे में राय लीजिए कि इस स्थान पर किसे बिठाना चाहिए। यदि सबकी राय यह होगी तो मैं सोचूंगा। लेकिन आप

लोग मेरा नाम न सुझावें। उनकी ओर से ही नाम आने दीजिए।'

बाबाजी ने इसे स्वीकार कर लिया। मेरा उद्देश यह था कि सार्वजनिक रूप से कोई जिम्मेदारी लेना हो तो वह उसी दशा में ठीक है जब अधिकांश लोगों के सहयोग की आशा हो। इससे मुझे स्थानिक मित्रों की रुचि-अरुचि का पता लग सकता था। यदि लोगों की राय न हुई या कम हुई तो मुझे बाबाजी को समझाने का अच्छा अवसर मिल जायगा। बाबाजी ने रिपोर्ट लाकर दी कि हमने ब्यावर, अजमेर के सब मित्रों से पूछ लिया। १६ राय आपके व १४ राहतजी के पक्ष में मिलीं। प्रायः सभी ने आपका नाम सूचित किया है। तब मैंने सोचा कि यह जिम्मेदारी तो कोरी स्थानिक नहीं है, प्रान्तिक है, सभी जगह मेम्बर बनाने होंगे व चुनाव लड़ना होगा। प्रान्त भर के सहयोग की आवश्यकता होगी। तो मैंने कहा कि सब प्रान्तों से चुने हुए कार्यकर्त्ता बुला लीजिए, उनकी भी राय हुई तो मुझे आपके अनुकूल सोचने में बल मिलेगा।

तदनुसार प्रान्तीय मित्रों की मीटिंग हुई, जयपुर के श्री पाटणीजी व भोपाल के श्री विट्ठलदासजी ने मुझे यहां तक दबाया कि यदि ऐसे समय जब कि कांग्रेस का पुनरुद्धार हो रहा है, आपके जैसा आदमी पीछे हटता है तो हम मानेंगे कि आप प्रान्त का हित करने नहीं आये हैं, अहित चाहते हैं।

इस परिणाम से मैं खुश हुआ। यह पता लग गया कि आम तौर पर लोग मुझे चाहते हैं। तब मेरे मन में यह खयाल आया कि अब 'नाहीं' कहने से बाबाजी आदि मित्र तो नाराज हो ही जायेंगे, शायद लोग यह भी समझने लगें कि यह बड़ा जिद्दी व अभिमानी भी है। दूसरे यह सोचा कि दूसरी जगह तो लोगों को यह शिकायत है कि लोग हमें सहयोग नहीं देते, विरोध करते हैं, यहां जब इतने मित्र सहयोग देने के लिए तैयार हैं तो उससे लाभ न उठाना शायद गलती भी हो और जैसा कि इन मित्रों ने कहा, इससे प्रान्त का अहित भी हो।

इन भावों के प्रभाव में मैंने मीटिंग में ही बाबाजी से कह दिया—

'मैं तैयार हूं, आपको जहां विठाना हो वहां विठा दीजिए। मगर एक शर्त है, यदि कोई भी अनैतिक वात हमारी तरफ से हुई तो मैं तुरन्त इस्तीफा दे दूंगा।'

वावाजी ने इसे स्वीकार किया। यह मेरे कांग्रेस में प्रवेश होने की भूमिका है। चुनाव में दो नियमों पर कड़ाई से अमल करना तय हुआ—सेठीजी की पार्टी के खिलाफ कलकत्ते वाली टिकट वेचने की या दूसरी सार्वजनिक वुराइयों का ही प्रचार संयत भाषा में किया जाय, व्यक्तिगत आक्षेप कतई न हो। अपनी तरफ से कोई कानूनी गलती भी न की जाय।

मुझे याद पड़ता है, एक अवसर ऐसा आ गया था, जव मुझे खवर मिली कि कुछ व्यक्तिगत गंदगी उछालने की—पर्चे छपाने की—वात हो रही है, हमारी कमेटी में से ही कोई ऐसा प्रयत्न कर रहा है तो मैंने फौरन वावाजी से कहा कि ऐसी वात होगी तो अपने ठहराव के अनुसार मैं कमेटी में नहीं रहूंगा।

चुनाव के लिए श्री किदवई साहव आये थे। मेरा उनका यह प्रथम ही परिचय था। एक वार सेठीजी की पार्टी की ओर से हमारी पार्टी के खिलाफ आई रिपोर्ट उन्होंने मुझे जांच के लिए दी। मैंने आश्चर्य से कहा—'हमारी पार्टी के संवंध में शिकायत, और आप मुझे ही उसकी जांच का काम देते हैं। इससे वाकी मित्रों को कैसे सन्तोष होगा? किसी तीसरे आदमी को दीजिए न।'

'मैं जानता हूं कि आप सच्चाई को छिपावेंगे नहीं। आपकी पार्टी की गलती होगी तो आप जरूर अपनी पार्टी के खिलाफ राय दे देंगे। किसी तीसरे आदमी की वनिस्वत मुझे आप पर ज्यादा विश्वास है।'

जव चुनाव में हमारी कामयावी हुई तो किदवई साहव ने हम लोगों को मुवारकवादी दी थी। तव मैंने कहा—'मुझे इस जीत पर खुशी नहीं है। यह वोटों की जीत है, कानूनी जीत है; नैतिक विजय नहीं है।'

चुनाव में मेरा नाम प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान मंत्री की जगह

रखा गया था। मैंने सिर्फ साल-भर के लिए यह पद स्वीकार किया था, परन्तु बाद में, इसी साल सत्याग्रह का दौर चल निकला जो १९३३ तक चला। सत्याग्रह के बीच में ऐसी जिम्मेदारी को छोड़ देना मुझे अपनी स्पिरिट के खिलाफ मालूम हुआ। मेरा नियम यह है—जब कठिनाई, जोखिम, निन्दा का अवसर हो तो आगे, व मान-सम्मान, बड़ाई का हो तो पीछे रहना चाहिए। सत्याग्रह स्थगित होने के बाद मैं कांग्रेस के पद से हट गया। सिर्फ विचित्र परिस्थितियों में एक अपवाद करना पड़ा था।

: ३२ :

स्मरणीय घटना

१९२९ के दिसम्बर के महीने में हमने कांग्रेस-कमेटी का चार्ज लिया व १९३० की २६ जनवरी को प्रथम स्वाधीनता-दिवस मनाना था नये सिरे से नई कमेटी की प्रतिष्ठा जमानी थी। अजमेर में आर्य-समाज के वार्षिकोत्सव के सिवा सार्वजनिक चन्दा बन्द हो गया था। सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के प्रति लोगों की अश्रद्धा किस गहराई तक पहुंच चुकी थी, इसका अन्दाज मुझे गुजरात बाढ़ के चन्दे के समय हुआ। श्री मणिलाल कोठारी उन दिनों मुझे चलते-चलते कह गये कि गुजरात बाढ़ के पीड़ितों के लिए भी कुछ करना। मैंने सहज भाव से 'हां' कर ली। जब अजमेर के मित्रों से बातचीत की तो पता चला कि यहां तो चन्दा मुश्किल है। लोगों का विश्वास ही सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं पर से उठ गया है। पर सहायता तो भेजनी थी, क्योंकि वादा कर चुका था। तब श्री दुर्गाप्रसादजी ने तजवीज सुझाई कि कमेटी के संयोजक आप बनें, खजांची वैद्यराज रामचन्द्रजी बनें, तो चन्दा भले ही हो सके। फिर जितना रुपया रोज मिले उतना उसी दिन सरदार पटेल को भेज दिया जाय व दूसरे दिन सुबह दानदाताओं की सूची व रुपये भेजने का बीमा या मनीआर्डर नम्बर छापकर पत्रिका निकाली जाय तो लोगों का विश्वास जम सकता है। ऐसा ही किया गया। तब जाकर कोई २०००) रु० व कपड़ा आदि वहां भेजा जा सका। इसी तरह खादी-फेरी के सिलसिले में जब इंदौर गया था तब वहां एक खादी-भंडार कायम करने के लिए रुपये एकत्र करने

लगा तो व्यापारी समाज के लोगों ने कहा—अजमेर के नाम पर एक पैसा भी चन्दा हम लोग नहीं देंगे। तिलक-स्वराज्य कोष के लिए कोई ४००००) इन्दौर से गये जिसका एक पैसा भी यहां नहीं भेजा गया, जबकि ¾ यहां मिलना व खर्च होना चाहिए था। लेकिन आप खादी के लिए आये हैं तो आपको इनकार नहीं कर सकते। इसी तरह जब २६ जनवरी मनाने की व्यवस्था के सिलसिले में हम प्रथम बार केकड़ी गये तो वहां के लोगों ने भी कहा कि चंदे का तो हमें बड़ा कटु अनुभव हुआ है। अजमेर के लिये यहां से एक पैसा नहीं मिलेगा। तब मैंने लोगों को समझाया कि अजमेर से तो मैं खुद भी पैसा मांगने आऊं तो आप मत दीजिएगा—लेकिन यहां के कामों के लिए पैसा इकट्ठा करके आपके विश्वास-पात्र लोगों के पास यहीं रखिए व यहीं खर्च कीजिए। आपको चाहिए तो अजमेर से उल्टा पैसा मैं यहां भिजवाता रहूंगा। और छः मास तक केकड़ी की कमेटी के लिए अजमेर से रुपया भिजवाता भी रहा। ऐसे अश्रद्धा व अविश्वास के वातावरण में काम करना था। परन्तु परमात्मा की कृपा व महात्माजी के आशीर्वाद से, जब नई कमेटी बनी तो लोगों का उसपर विश्वास जमने लगा व आशाएं भी बढ़ने लगीं। चुनांचे अजमेर, केकड़ी ब्यावर व अन्य जगह भी स्वाधीनता-दिवस धूमधाम से मनाया गया।

इसके दो ही महीने बाद नमक सत्याग्रह का कार्यक्रम देश के सम्मुख आगया। मैं प्रथम डिक्टेटर बनाया गया। पिछड़ा हुआ व देशी-राज्यों से घिरा प्रांत होने के कारण मैंने सोचा कि कम-से-कम १०००) मासिक रुपया व ५०० स्वयं-सेवक मिल जाने पर—जिससे कम-से-कम १ साल तक तो लड़ाई चालू रह सके—यहां सत्याग्रह चालू करना चाहिए। भले ही शुरू करने में हमें कुछ दिन की देरी क्यों न लग जाय। साल-भर के लिए रुपयों का इंतजाम कर चुका था। पर स्वयं-सेवकों के २५० नाम ही आये थे; तब हमने तजवीज की कि ६ अप्रैल को स्वयं-सेवकों की दो टोलियां पैदल प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में अजमेर से निकलें। पहली टुकड़ी श्री नित्यानंदजी नागर—भूतपूर्व कमांडर इन चीफ, बूंदी

राज्य—के नेतृत्व में ब्यावर जाने वाली थी। उसको विदाई देने के लिए ९ अप्रैल १९३० की शाम को आम सभा होने वाली थी। मैं विदाई का भाषण देने के लिए सभा के मैदान में घुसा ही था कि भाई बैजनाथजी ने कहा—'दा साहब, नागरजी ने तो कल जाने से इन्कार कर दिया! और सभा की तो तैयारी हो गई। आपकी ही इंतजारी हो रही है।' मुझ पर मानो किसी ने वज्र गिरा दिया। मन में कहा—यह तो ऐन वक्त पर बड़ा धोखा दिया। क्रोध तो इतना आया कि नागरजी सामने मिल जायं और मैं हिंसावादी होऊं तो गोली से उड़ा दूं। इस विषम परिस्थिति से मेरी आंखों में आंसू छलछला आये। यह देखकर बैजनाथजी ने कहा—'पर आप चिन्ता क्यों करते हैं, मेरी टुकड़ी चली जायगी।' मैंने मन में यही सोचा था और खुद उन्होंने ही यह प्रस्ताव रख दिया। मेरे हृदय में उस दिन बैजनाथजी का जो मूल्य बढ़ा उसको आंकना कठिन है। ऐसे साथी को पाकर मेरी छाती फूली न समाई। मैंने कहा—तो अपने आदमियों को इकट्ठा कर लीजिए—कछ तो सभा में भी आये ही होंगे। मैं आपकी टुकड़ी को विदाई दे देता हूं।

विदाई के बाद कोई रात को १० बजे सत्याग्रह कैम्प में मैंने नागरजी को बुलाया व उनसे बड़ी शांति व सद्भाव से पूछा—'आपने कल जाने से इन्कार क्यों कर दिया?' मैंने मन में निश्यच कर लिया था कि नागरजी को पहले पूर्ण सन्तोष देकर फिर उनसे आज की अवज्ञा का जवाब-तलब करूंगा। उनके जैसा आदमी बिना किसी बड़े कारण के ऐन मौके पर इन्कार नहीं कर सकता। अतः पहले मैंने उनके दिल को टटोलना मुनासिब समझा। यही मुझे इस समस्या को अहिंसात्मक रीति से हल करने का मार्ग सूझा। अहिंसात्मक अनुशासन मुख्यतः अन्दर से विकसित किया जाता है। मैं चाहता तो इसी बात पर उन्हें स्वयं-सेवक दल से हटा सकता था; परन्तु मैंने कोरे ऊपरी अनुशासन को महत्त्व न देकर उसकी तह तक पहुंचना व उसका असली उपाय करने का निश्चय किया।

उन्होंने कहा—'मुझे कुछ ऐसा लगा कि यहां सत्याग्रह की तैयारी

ढीली-ढाली है। आपकी मंशा सत्याग्रह चालू करने की नहीं है, ऐसा भी सुना। लोगों ने यह भी कहा कि आप कमजोर आदमी हैं, कोई-न-कोई बहाना निकालकर सत्याग्रह न होने देंगे, न खुद ही जेल जायंगे।'

'यही बात है या और कुछ ?'

'बस यही और इतनी ही। इसलिए मैं सोच रहा हूं कि बंबई चला जाऊं। मुझे सत्याग्रह जरूर करना है।'

'आप बम्बई क्यों जावें ? आपको यहीं सत्याग्रह का मौका मिलेगा। अच्छा अब आपको यकीन कैसे हो कि यहां सत्याग्रह अवश्य चलेगा व मैं भी उसमें सम्मिलित होऊंगा।'

'आप सत्याग्रह की कोई तारीख निश्चित कर दें तो मुझे इतमीनान हो जायगा।'

'तारीख मैंने अभी तक इसलिए नहीं तय की कि मैं चाहता हूं कि कम-से-कम ५०० स्वयं-सेवक भर्ती हो जायं, जिससे १ साल तक तो जेल जाने वालों का तांता न टूटने पावे। पर अब तो मुझे आपका सन्देह दूर करना है, इसलिए इस शर्त को छोड़कर तारीख निश्चय किये देता हूं। अच्छा २० अप्रैल हो तो कैसा ?

'हां, बहुत ठीक है। अब मुझे कोई आपत्ति नहीं। कल मेरी टुकड़ी को विदा कर दीजिए।'

'और मैं चाहता हूं कि २० ता० को ब्यावर में सत्याग्रह शुरू करने का भी गौरव आपकी टुकड़ी को मिले।

अब तो नागरजी बहुत प्रसन्न हो गये। मैंने फिर कहा—

'और मेरा यह निश्चय है कि २० तारीख को ही अजमेर में मेरे नेतृत्व में नमक कानून तोड़ा जायगा। अब तो आपको दोनों बातों का इतमीनान हो जायगा न ?'

नागरजी ने आनन्द से उछलकर मेरे पांव पकड़ लिये। वे मेरी तरफ से इतने सब आकस्मिक व अनुकूल निश्चयों के लिए तैयार न थे। जब उन्होंने कह दिया कि अब मुझे पूरा इतमीनान व सन्तोष हो गया तब मैंने कहा—

'आपका तो पूर्ण समाधान मैंने कर दिया, अब मेरे समाधान की बारी है। देखिए, आप बून्दी-राज्य के कमांडर-इन-चीफ रह चुके हैं। सेना के शासन व अनुशासन से खूब वाकिफ हैं। मैं तो एक ब्राह्मण का बेटा हूं, मेरे बाप-दादों में भी कभी कोई सेना में भर्ती नहीं हुआ। यों भी मैं बोदा आदमी गिना जाता हूं, और शायद किसी सेना के संचालन की योग्यता भी नहीं रखता हूं। परन्तु आपसे यह जानना जरूर चाहता हूं कि आज आपने अपने सेनापति की जो अवज्ञा की है और जिस तरह ऐन मौके पर की है, वैसी किसी भी सेना में सहन की जा सकती है ?

'नहीं, हरगिज नहीं।'

'तब, आप ही बताइए कि मुझे आपके व आपकी टुकड़ी के लिए अब क्या कार्रवाई करनी चाहिए ? आप मेरी जगह होते तो क्या करते ? शायद गोली से उड़वा देते। मेरे भी जी में ऐसे कड़े अनुशासन के भाव आये थे, आपका गुनाह मुझे गोली मार देने के काबिल ही जंचा था, परन्तु मैंने उसे सत्याग्रही तरीके से हल करना मुनासिब समझा। अब बताइए मैं क्या करूं।'

उन्होंने एक सच्चे अपराधी की भांति मुझसे माफी मांगी, और कहा—'मैं सेनापति रहा होकर भी नालायक सिपाही साबित हुआ, आप सैनिक न होकर भी सच्चे सेनापति साबित हुए। आज आपने मुझे सदा के लिए जीत लिया। तबसे नागरजी का जो विश्वास मुझपर बैठा है वह आज तक टूटा नहीं है। दूसरे दिन जब उनकी टुकड़ी को विदाई मैंने दी तब भरी सभा में उन्होंने मुक्तकण्ठ से अपना अपराध स्वीकार किया, मेरी माफी मांगी और सो भी पूर्वोक्त शब्दों को दुहराते हुए। इससे मुझे नागरजी की साफ-दिली व साहस का भी परिचय मिला।

पूर्व-निश्चय के अनुसार २० अप्रैल १९३० को अजमेर में मेरे नेतृत्व में व ब्यावर में नागरजी के नेतृत्व में नमक-कानून टूट गया।

: ३३ :

बहिष्कार

इसके पहले की एक और घटना याद आ गई, जिसमें मुझे अपने घर में ही एक भारी 'सत्याग्रह' का सामना करना पड़ा। इसमें मेरी दृढ़ता तथा अहिंसा दोनों की काफी परीक्षा हुई। रेवाड़ी में एक भगवद्भक्ति आश्रम है। वहां श्री जमनालालजी के साथ मैं भी गया था। वहां के तत्कालीन प्रधान श्री परमानन्दजी महाराज से नीचे लिखे अनुसार जमनालालजी की बातचीत हो रही थी कि मैं पहुंच गया—

महाराज—'खान-पान के बारे में आपके क्या विचार हैं ?'

जमनालालजी—'शुद्ध भोजन, शुद्ध पात्रों में शुद्धता से बनाया हुआ हो तो मुझे किसी के भी हाथ का खाने में आपत्ति नहीं है।'

'क्यों उपाध्यायजी, इस विषय में आपका क्या मत है ?'

'सेठजी का व मेरा इस सम्बन्ध में एक ही मत है।'

'तब तो आपको हरिजनों के हाथ का खाने में कोई परहेज न होगा ?'

'क्या परहेज हो सकता है ? मगर पूर्वोक्त तरह से बना हो।'

तब महाराजजी ने पास ही जाते हुए एक हरिजन बालक को, जो उनके आश्रम की पाठशाला में ही शायद पढ़ता था, बुलाकर कहा—'देखो, आज जमनालालजी व उपाध्यायजी तुम्हारे यहां खाना खायेंगे। तुम अपने घर कह दो।'

जमनालालजी—'लेकिन मेरी तैयारी इनके घर खाने की नहीं है। क्योंकि मैंने आपसे कहा है कि पात्र शुद्ध होना चाहिए, व शुद्धता के

साथ बना हुआ होना चाहिए। इनके घर पर न जाने कैसे पात्र हों, व न जाने किस तरह खाना बने।'

महाराजजी—'तो ऐसा करो, (हरिजन बालक से) तुम अच्छी तरह नहा-धोकर, आश्रम के साफ बरतनों में, यहीं खाना बनाओ और आप लोग वह भोजन करेंगे।'

हमारे सामने इसके परिणामों का सारा चित्र खड़ा हो गया। मन में यह तो हुआ कि महाराजजी ने अपने को अच्छे पेंच में डाल दिया। परन्तु यह भी खयाल आया कि जैसा हम दावा करते हैं वैसी ही परीक्षा का अवसर अगर आ गया है तो पीछे हटना कायरता ही होगी।

हम दोनों ने कहा—'हां, इस तरह भोजन करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। पाठशाला के कई बालकों ने मिलकर, जिनमें एक वह हरिजन बालक भी था, चूरमा-बाटी बनाया व हम दोनों ने वह प्रसाद ग्रहण किया। दूसरे-तीसरे ही दिन अखबारों में बड़ी-बड़ी सुर्खियों में इसका समाचार छपा। हमने इसका अनुमान पहले से कर लिया था। अजमेर पहुंचते ही मैंने अपनी मां से कहा—'आज से मेरा खाना मेरे कमरे में पहुंचा दिया करो। मेरे पानी का बर्तन भी मेरे कमरे में ही रखवा दो। मैं आप लोगों की रसोई में भोजन नहीं करूंगा।'

मां हक्का-बक्का रह गई। पूछा—'आखिर बात क्या है ?' मैंने सब मामला बयान किया। वह बिगड़ कर बोली—'तो वाह ! कहीं ऐसा हो सकता है, तुम अलग खाओ व हम अलग खावें—यह कभी नहीं हो सकता।'

'लेकिन बिरादरी वाले ऐतराज करेंगे। मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण आप लोगों को कठिनाई में पड़ना पड़े।'

'तो जो तुम्हारी गत होगी वही हमारी, हम तुमसे अलग नहीं रह सकते।'

जब मैंने अपनी धर्मपत्नी को समझाना चाहा तो उसने और भी बिगड़कर कहा, जब जीजी जैसी बूढ़ी व पुराने विचार की को कोई

आपत्ति नहीं है तो आप समझते हो मुझे आपत्ति हो सकती है, व मैं यह स्वप्न में भी गवारा कर सकती हूं कि आप अलहदा खायें-पियें ? यह तीन काल में नहीं हो सकता।'

पत्नी से तो मैं यही उम्मीद रख सकता था—लेकिन मां की इस उदारता के लिए मैं तैयार नहीं था। उसके इस जवाब में मातृ-हृदय की सारी विशेषता व महत्ता छिपी हुई मैंने देखी। आज भी मां का वह साहस मुझे कई बार याद आता है और कठिन अवसरों पर मुझे बहुत बल देता है।

किन्तु पिताजी क्षमा करने वाले नहीं थे। वे अपने विचारों के बड़े ही दृढ़ हैं। वे मेरे कितने ही नये आचार-विचारों से यों नाराज थे; परन्तु छुआछूत दूर करने का मसला आज तक भी उनके गले नहीं उतरा है। तो फिर उनके हाथ का खाने की बात तो उन्हें कैसे बरदाश्त हो सकती थी ? उन्होंने मुझे बहुत डांटा—'तुमने यह धर्म-विरुद्ध आचरण क्यों किया ?'

'इसे मैं धर्म-विरुद्ध नहीं मानता। जिसे मैं धर्म-विरुद्ध समझता हूं। उसे नहीं करता हूं। यह केवल समाज की प्रथा के विरुद्ध कहा जा सकता है।'

'तो क्या तुम समाज में नहीं हो ? जब हो तो क्या समाज के नियम मानना जरूरी नहीं हैं ?'

'जिन नियमों या प्रथाओं से समाज का अहित होता हो उन्हें तोड़ डालना ही उचित है। यह समाज की बड़ी भारी सेवा है।'

'पर जब तुम परिवार में रहते हो तो परिवार वालों से बिना पूछे तुमने ऐसा काम क्यों किया, जिससे सारे परिवार को संकट में पड़ना पड़े।'

'आपकी यह दलील कुछ अंश तक ठीक है। लेकिन जिन परिस्थितियों में यह हुआ उसमें परिवार वालों से पूछने की गुंजाइश नहीं थी। और उसका अब यह इलाज है कि आप परिवार से मुझे पृथक् समझ

लें। मैंने आते ही जीजी से यही कहा था कि मेरा खाना मेरे कमरे में भिजवा दिया करो व पानी का वरतन भी यहीं रखवा दो। मैं आप लोगों के चौके चूल्हे, पानी आदि से दूर रहूंगा। पर वे दोनों नहीं मानतीं। आप उनको समझा दें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

जीजी टस से मस न हुईं। यह पिताजी को बहुत नागवार हुआ। उन्होंने कहा तुम यदि इसका प्रायश्चित्त नहीं करोगे तो मैं खाना-पीना छोड़ दूंगा, पुष्कर चला जाऊंगा व प्राण दे दूंगा। मैंने उन्हें तरह-तरह से समझाया कि अपराध मेरा है तो मुझे जो चाहें दण्ड दे दीजिए, पर आप क्यों यह कष्ट उठा रहे हैं। जीतमलजी, महोदयजी ने भी समझाया पर एक दो दिन वे नहीं ही समझे।

तब मैंने उनसे कहा—'आपको यह प्रायश्चित्त का आग्रह छोड़ देना चाहिए।'

'तुम जानते हो, मैं अपने विचारों का बड़ा पक्का हूं।'

'लेकिन मैं भी आप ही का तो पुत्र हूं। आपका यह गुण मुझे भी विरासत में मिला है। मैं भी यों किसी की धमकी से अपने विचार छोड़ने वाला या कुछ और करने वाला नहीं हूं। इसीलिए मैं कहता हूं कि आप इस बात पर जोर न दें।'

'नहीं, तुम नहीं मानोगे तो मुझे प्राण दे देने होंगे।'

'तो यह मेरा दुर्भाग्य है। यदि मेरे भाग्य में यही लिखा है, तो यह टलेगा भी कैसे? यदि संसार में मेरे लिए यही मशहूर होना है कि एक ऐसा पितृ-घाती पुत्र जन्मा तो मैं इस अपकीर्ति को सहूंगा, भुगतूंगा, और क्या उपाय है? लेकिन आप यदि मुझे अपराधी समझते हैं तो मुझे क्यों नहीं कहते, जा मुझे मुंह मत दिखा, पुष्कर में डूब मर। देखिए, मैं उसका पालन करता हूं या नहीं।'

पिताजी के धार्मिक संस्कारों को आघात पहुंचा था, यह सही; परन्तु इससे भी अधिक उन्हें जाति से वहिष्कृत होने का डर था, जो आखिर

सामने आ ही गया। कोई १२–१३ साल तक हमारा परिवार बहिष्कृत रहा।

एक सहानुभूतिशील मित्र ने कहा—'उपाध्यायजी, आप सिर्फ इतना ही कह दीजिए कि यह खबर गलत है। लोग इसीको प्रमाण मानकर बहिष्कार उठा लेंगे।'

'यह इतनी-सी बात तो बड़ी भारी है। मनुष्य किसी-न-किसी एक बल को लेकर जीवित रहता है। किसी के सत्ता-बल होता है, किसी के धन-बल, किसी के विद्या बल, किसी के सत्य-बल। मेरे पास और कोई बल नहीं, थोड़ा-सा सत्य-बल है, जिसकी बदौलत मैं जी सकता हूं व जी रहा हूँ। आप उसीको मुझसे छीन लेना चाहते हैं। उसे खोकर मैं जाति में भले ही आ जाऊंगा, पर अपने जीवन से हाथ धो बैठूंगा। क्या आप इतनी बड़ी कीमत लेना या मुझसे दिलाना चाहते हैं?'

मित्र चुप हो गये। अपने जीवन में पिताजी के 'सत्याग्रह' का सामना करने का यह पहला ही अवसर था। इसमें जो मानसिक संघर्ष हुआ उसे सहने का बल केवल 'अहिंसा' के द्वारा ही मिल सकता था। इस प्रसङ्ग पर मुझे उसकी नाप निकालने का अच्छा मौका मिला।

: ३४ :

एक दूसरा सत्याग्रह

जेल में एक इससे भी जबरदस्त सत्याग्रह का सामना करना पड़ा था। १९३० के नमक कानून को तोड़ने में बहुतेरे छोटे-बड़े कांग्रेसी जेल में आये। अजमेर में दो पार्टियां थीं—एक सेठीजी की, दूसरी हम लोगों की। जेल में दोनों तरफ के लोग आये। वहां स्वभावतः कुछ मित्रों ने यह कोशिश की कि दोनों दल एक हो जायं। मुझे ऐसा लग रहा था कि ऊपरी चेपा-चापी से अधिक लाभ न होगा। यहां जेल में कुछ दिन साथ रह लेने के बाद शायद मनो-मालिन्य मिटने में ज्यादा सुविधा होगी। मेरे सन्मान्य मित्र मास्टर लक्ष्मीनारायणजी—अब स्वामी ओमानन्दजी तीर्थ—को, जो समझौता कराने वालों में मुख्य थे, यह लगा कि मैं समझौता नहीं चाहता हूँ। उन्होंने मुझसे कहा उपाध्यायजी, मैं समझौते का यत्न कर रहा हूं, जब कि उसमें आप कठिनाइयां पैदा कर रहे हैं। मैंने उनसे कहा, आपका खयाल गलत है। मैं भी समझौता ही चाहता हूं, परन्तु जल्दी करने से वह कच्चा रह जायगा—यह अन्देशा मुझे है। उनका इससे समाधान न हुआ व उन्होंने मुझसे कहा—'नहीं, आप समझौता नहीं चाहते हैं, मैं आपको इसमें दोषी मानता हूं व इसलिए आपके विरोध में अनशन करूंगा।' बहुत करके उन्होंने यह भी कहा था कि दो-तीन दिन के बाद मैं पानी भी छोड़ दूंगा।

मैं जानता था कि मास्टर साहब बड़े दृढ़प्रतिज्ञ हैं। हम दोनों में परस्पर बहुत प्रेम व आदर भी था। वे बड़ी गलतफहमी के असर में

आगये थे। मैं अपनी भावनाओं को खूब अच्छी तरह जानता था—एक वार फिर अपने हृदय को टटोला—उसमें कहीं ऐसी भावना नहीं पाई, जिसमें मास्टर साहव के सन्देह का कारण रहे। मैंने कहा, मैं आपसे ठीक कह रहा हूँ कि मेरी भावना शुद्ध है, आपको ऐसा सत्याग्रह नहीं ठानना चाहिए।

उन्होंने नहीं माना, कहा—'मैंने तो प्रतिज्ञा कर ली है, अब नहीं टल सकती। आप अपना हृदय साफ कीजिए।'

'तो मुझे कहना होगा कि यह आपका सत्याग्रह नहीं दुराग्रह है। और दुराग्रह मुझे कभी दवा नहीं सकता। मुझे वड़ा दुःख है कि मैं आपको अपनी सचाई समझा नहीं सका।'

वे अपने ढोले—स्थान पर चले गये। इस घोषणा से सभी राजनैतिक बन्दियों में सन्नाटे की गम्भीर लहर फैल गई। मेरे मित्र मुझे समझाने आते थे कि मास्टर साहव को सन्तोष देकर इस अप्रिय काण्ड को समाप्त कर देना चाहिए; पर मैं हैरान था कि जो आशय मेरा नहीं है उसको गलत समझकर कोई कुछ कार्रवाई करे तो मेरे पास क्या उपाय है, सिवा इसके कि उसके दण्ड या प्रायश्चित्त को शांति से सहन करूं व परमात्मा से उसकी शङ्का-निवृत्ति के लिए प्रार्थना करता रहूं। उनके कष्ट या प्राण जाने के भय से झूठ-मूठ ही कोई वात कुवूल कर लेना तो किसी के भी साथ न्याय करना न हुआ। मैंने मन में सोचा कि जो कुछ परमात्मा को मंजूर होगा वह हो जायगा। मुझे निश्चय था कि मास्टर साहव ने जो कह दिया है वह अव होकर ही रहेगा। उनकी मृत्यु का भार मुझे सिर पर लेना ही होगा। परमात्मा की ऐसी इच्छा है तो यही सही।

मैंने मास्टर साहव के पास जाकर कहा—'अव तो जो कुछ होगा वह सव परमात्मा के अधीन है। यदि मैं सच्चा हूं तो परमात्मा मुझे आपके इस घोर तप को सहन करने का वल देगा। पर मेरा एक अनुरोध जरूर है। जव तक आपका अनशन चालू रहे तव तक आपकी हर प्रकार की

सेवा मैं करूंगा। आप आराम से लेटे रहिए—यह सौभाग्य मैं दूसरे को नहीं लेने देना चाहता।'

'मुझे खुद किसी की सेवा की ज्यादा जरूरत न होगी—और सब प्रकार की सेवा तो मैं आपसे ले भी नहीं सकता। लेकिन मैं आपके प्रस्ताव को अमान्य भी नहीं कर सकता; अतः आप, जब-जब मैं चाहूं, उपनिषद् पढ़कर मुझे सुनाते रहिए।'

'लेकिन इस बीच आप इस बात की भी तलाश-पूछ करते रहिए कि इसमें सचमुच मेरा कोई कसूर है क्या? कोई हकीकत आपके सामने आवे तो आप उसे मेरे सामने रखिए व मेरा जवाब या सफाई सुन लीजिए। इसमें क्या हर्ज है?'

'हर्ज कुछ नहीं—मैं जरूर ऐसा करूंगा।'

मुझे बड़ा हर्ष हुआ जब २-३ दिन में ही उन्होंने मुझसे कहा—'उपाध्यायजी, मैंने खूब छान-बीन करली—आप इसमें निर्दोष हैं। अतः अब मुझे इस उपवास को जारी रखने का प्रयोजन नहीं रहा।'

मैंने उन्हें व परमात्मा को शतशः धन्यवाद दिये। एक महान् अग्नि-परीक्षा से परमात्मा ने मुझे उबारा। मुझे इस समय प्रह्लाद का स्मरण आया। जलती होली में से उसे भगवान् ने इसी तरह बचाया होगा।

मुझे कई बार, बड़े नाजुक अवसरों पर भी, यह अनुभव हुआ है कि जब मैंने अपने हृदय को टटोलकर अपनेको निर्दोष पाया है तो बड़े से बड़े भय व धमकी का तिल-मात्र असर मेरे मन पर नहीं हुआ है। उल्टा यह कुतूहल पैदा होजाता है कि देखो परमात्मा इस मुसीबत से क्या नतीजा—शुभ निकालता है। अक्सर मेरे पास लोग आये हैं—'हम इस तरह अखबारों में छपवा देंगे, धूल उड़ा देंगे, पोल खोल देंगे—आदि कहते हुए। मैं उन्हें सीधा जवाब देता हूं 'तो पहले यह सब कर लीजिए। पीछे बातें करेंगे। अभी आप बात करने नहीं आये हैं, मुझे दबाने व डराने आये हैं। ऐसी दशा में बात करना फिजूल है।' और मेरे मन पर तनिक भी आतङ्क नहीं छाता कि अब क्या होगा। ऐसे

समय मेरे मन में इस प्रकार विचार उठते हैं—यदि अपना दोष नहीं है, तो इनकी बुराई बदनामी से अपना कुछ बिगड़ नहीं सकता—इन्हीं की इज्जत कम होगी। यदि अपन दोषी हैं तो अव्वल तो उसे कुबूल कर लेना ही अच्छा है, नहीं तो फिर कोई उसे प्रकाश में क्यों न लावे? यदि वह मेरे सुधार के लिए ऐसा करता है, तो मुझे उसे धन्यवाद ही देना चाहिए। यदि उसकी नीयत महज मुझे बदनाम करने की है तो इसका फल वह आप पा जावेगा व उसकी बदनीयती उसे दुःख देगी न कि मुझे। इन विचारों से मुझे ऐसे अवसरों पर बड़ी शांति व बल मिलता है।

: ३५ :

बलाइयों के बीच

सम्भवतः १९३१ की बात है। मैं जेल से छूटा ही था कि भाई ओम्‌दत्तजी का बुलावा अमरसर (जयपुर) से आया—'बलाइयों की बहुत बड़ी पंचायत है। उनमें सुधार का प्रचार करने का बहुत अच्छा अवसर है। आप जरूर आइए।' १९२७ में ही हम लोगों ने एक 'अछूत सहायक मण्डल' बनाया था जिसका मैं सभापति था। श्री देशपांडेजी मंत्री व कपूरचंद्रजी पाटणी सदस्य थे। प्रकृत रूप से उसका कार्य जयपुर राज्य में ही चलता था। पाठशाला में, दवा-दारू, सफाई, दुर्व्यसन-निषेध, आदि का प्रबन्ध उसके द्वारा होता था। अतः मैं तुरंत अमरसर पहुंचा। ठीक पंचायत का काम शुरू होने के कुछ पहले नीम के थाने (जयपुर का एक जिला) के पुलिस इन्स्पेक्टर आये। मुझसे कहा—जयपुर-राज्य में सभा बुलाने की मुमानियत है, आप लोग सभा न करें, न व्याख्यान दें। भाई कपूरचन्द्रजी व देशपांडेजी भी वहां थे। हमने उन्हें जवाब दिया कि सिर्फ जयपुर-शहर में बन्दी है, (उस समय ऐसा ही था) रियासत में नहीं है। उन्होंने कहा—आप इजाजत मंगा लीजिए, फिर व्याख्यान दीजिए। हमने कहा—'जब इजाजत की जरूरत नहीं है, तो क्यों मंगाई जाय ?'

'तो मैं आपको मना करता हूं कि आप सभा में व्याख्यान न दें।'

मैं समझ गया कि मैं जेल से अभी छूटा हूं, इसलिए पुलिस यह गड़बड़ कर रही है।

'तो आप जयपुर-राज्य से तार देकर मनाई-हुक्म मंगा लीजिए।'

'मैं क्यों तार दूं, मैं तो यहीं आपको हुक्म दे रहा हूं।'

'तो आप लिखित हुक्म दे दीजिए। हम जानते हैं कि आपको ऐसा कोई अख्तियार नहीं है, फिर भी हमारी नीति राज्य से भिड़ने की नहीं है, अतः हम मान लेंगे, और आपके हुक्म के खिलाफ जयपुर-राज्य से लिखा-पढ़ी व दूसरी मुनासिब कार्रवाई करेंगे।

'लिखा हुक्म तो मैं नहीं दूंगा—जबानी ही काफी है।'

'पर हम तो काफी नहीं समझते। अगर आप लिखित हुक्म नहीं देते हैं तो मैं जरूर सभा में बोलूंगा। जबानी हुक्म हम लोग आपका नहीं मान सकते।'

'देखिए, आप ख्वामख्वा बखेड़ा करते हैं। इसका नतीजा अच्छा न होगा।'

'बखेड़ा आप खड़ा करते हैं या हम? जब रियासत में सभा करने व व्याख्यान देने की मनाई नहीं है, तो हम कैसे मान लें? फिर अगर आपको विश्वास है कि आप कानूनन सही कार्रवाई कर रहे हैं तो क्यों नहीं लिखित हुक्म दे देते? हम तो अनुचित होते हुए भी उसे मान लेने को तैयार हैं। अब बखेड़ा आप खड़ा करते हैं या हम? आपको यह समझ लेना चाहिए कि हम इस तरह घुड़की में आजाने वाले लोग नहीं हैं।'

अब वह कुछ दबे। कोई माकूल जवाब उनके पास न था। यह देख मैंने कहा—'आपको यह सन्देह है कि हम लोग बलाइयों को राज के खिलाफ भड़कावेंगे? यह सभा तो केवल उनके सामाजिक सुधारों के लिए बुलाई गई है। आप इतने परेशान क्यों होते हैं? आप भी सभा में चलिए न! आप भाषणों की पूरी रिपोर्ट लीजिए व जयपुर भेज दीजिए। वहां वालों को जो कुछ करना होगा, हमपर कानूनी कार्रवाई करते रहेंगे। आप क्यों मुफ्त में यह बला अपने सर पर लेते हैं? आप या तो नये आदमी हैं, या कानून-कायदे से वाकिफ नहीं हैं। आपका जबानी

हुक्म हम मानने के नहीं। व्याख्यान जरूर देंगे—तव आपकी वात क्या रहेगी ? उल्टा जयपुर वाले भी आपको डाटेंगे कि व्यर्थ में तुमने एक पेचीदी हालत पैदा कर दी। सम्भव है, झगड़ा वढ़ा तो, आपकी नौकरी पर भी जौफ आ जाय।'

अव वह और भी विचार में पड़ गये। इतने में हम लोग सभा में गये—उन्हें भी साथ ले गये। एक-दो व्याख्यान के वाद वे यह कह कर चले गये कि मैंने देख लिया। इसमें कोई आपत्ति की वात नहीं है। आप लोग शौक से सभा कीजिए।

  

इससे भी अधिक दिलचस्प एक वाकया इसी अमरसर का और याद आता है। जव अमरसर में खादी-केन्द्र अच्छा जम गया व खादी काफ़ी वनने लगी तो वहां के ठाकुर साहव के मन में कुछ लालच आया। वे रावजी कहलाते हैं और शेखावत राजपूतों में सवसे ऊंचे समझे जाते हैं। उन्होंने अमरसर वाले अपने अधिकारी को हुक्म दिया कि खादी-कार्यालय से जितनी खादी जाय उस पर फी थान एक या दो पैसा कौड़ी (चुङ्गी) ली जाय। यह कौड़ी लेने का अधिकार सिर्फ जयपुर-राज्य को है। उस समय इत्तफाक से खादी-आश्रम में श्री देशपांडेजी व मैं दोनों मौजूद थे। हमने उनके कर्मचारी को कहला दिया कि कौड़ी लेने का अधिकार रावजी साहव को नहीं है। अतः हम कौड़ी देने से मजवूर हैं। उन्होंने कहलाया कि जव तक आप कौड़ी न देंगे—माल नहीं लदने पावेगा!

हम लोगों ने सोचा कि यह अच्छी जवर्दस्ती रही। इसे हम हरगिज वरदाश्त नहीं कर सकते। किसी ने कहा भी कि देशी-राज्य है, कौन सुनवाई करेगा? मैंने कहा—'कोई करे या न करे, अनुचित लाग हम नहीं दे सकते। हमें अपने इनकार पर दृढ़ रहना चाहिए—परिणाम जो निकलेगा सो देखा जायगा।' हमने कहला दिया कि माल परसों जरूर लदेगा। हम छः सात आदमी आश्रम में हैं। सव ऊंटों के साथ रहेंगे। जव तक हम जिन्दा हैं तव तक तो माल रुक नहीं सकता। हमारी लाशों

विछा देने के वाद ही आप भले माल को रोक सकें। अब तो कर्मचारी घबराया—शायद खुद ही आश्रम में आया और कहने लगा—'साहब, इस बखेड़े में मेरी नौकरी मुफ्त में चली जायगी। मैं तो मजबूर हूं, जैसा रावजी साहब हुक्म देते हैं, वैसी तामील मुझे करनी पड़ती है। आप दो रोज और मेरे खातिर रुक जाइए, मैं खुद शाहपुरा जाता हूं व रावजी साहब को सारी परिस्थिति समझता हूं। आप लोग भी वहां चलें तो और भी अच्छा रहेगा। आप लोगों की बातों का जरूर उनपर प्रभाव पड़ेगा।'

हमने कहा—'आपके खातिर हम एक हफ्ता रुक जायंगे। हम न आपको नुकसान पहुंचाना चाहते हैं न रावजी साहब को। लेकिन किसी की धांधली हम वरदाश्त नहीं कर सकते। हम महात्माजी के उसूल पर चलने वाले लोग हैं। न डरते हैं, न डराना चाहते हैं।'

नतीजा यह हुआ कि रावजी साहब ने दूसरा हुक्म दिया कि खादी-आश्रम वाले जो माल भेजें उसको तहसील में दर्ज करा दें और जब यह साबित हो जायगा कि हमें कौड़ी लेने का हक है तो सारे माल की कौड़ी चुका दी जायगी। हमें इस पर कोई ऐतराज नहीं था। लेकिन साथ ही उन्होंने अपने कर्मचारी को दूसरा हुक्म यह भी दिया कि वेजारे—वलाई लोग जो माल खादी आश्रम को बेचें उस पर तहसील से छाप लगावें व फी थान एक पैसा लेकर छाप लगाई जाय। मतलब यह कि खादी-आश्रम को छोड़कर उन्होंने यह लाग बेजारों (बुनकरों) पर लगा दी। अब बेजारों में हलचल मच गई। हम लोगों के सम्पर्क में आते रहने के कारण वे पहले जैसे दब्बू नहीं रह गये थे। वे हमारे पास आये। हमने कहा—'देखो, तुम्हारी शिकायत तो सही है—रावजी साहब ने यह जबरदस्ती का लट्ठा तुम्हारे पीछे लगा दिया है। परन्तु हमने राज वालों को वचन दिया है कि हम आपके व प्रजा के झगड़ों में नहीं पड़ेंगे। सिर्फ रचनात्मक काम करेंगे। अतः हम तो आप लोगों की सेवा खादी, पाठशाला, औषधालय, आदि के रूप में ही कर सकते हैं, व करते हैं।

आपको अपनी लड़ाई खुद ही लड़नी पड़ेगी। आप जयपुर जाना चाहो तो हम ऐसे आदमियों को लिख सकते हैं जो इन मामलों में पड़ते हैं, वे आपकी मदद कर सकते हैं। लेकिन आप यह तो सोचिए कि क्यों रावजी साहव ने हम पर से कौड़ी उठाली व क्यों आप पर लगा दी ?'

उनमें से कुछ ने एक-साथ कहा—साहव आप लोग जवरदस्त हैं, आप भिड़ गये। आपसे नहीं चली तो आपको छोड़ दिया और हमें गरीव वेकस समझ के मार दिया !'

'तो, इसका वस सीधा इलाज यही है कि तुम भी जवरदस्त वन जाओ।'

वाद में तो सैकड़ों की तादाद में वे सारे स्त्री-पुरुष तहसील में गये व दिन भर धरना दिये वैठे रहे। कहा—'जवरदस्तों के आगे तो आपकी चली नहीं, हम गरीवों का क्यों पेट काटते हैं ?' अन्त में वे भी रावजी साहव के पास अर्जाऊ हुए व उन पर से भी यह नया लट्ठा उठ गया।

रावजी साहव के मुकावले में, जो कि वहां तमाम ठिकानेदारों में वांके राजपूत गिने जाते हैं, सीधे सत्याग्रह की यह पहली विजय थी, जिससे लोगों में वड़े वल, आत्म-विश्वास व आशा की लहर फैल गई।

: ३६ :

अहिंसा प्राणों का मोह नहीं

एक बार जोधपुर में एक जैन मुनि श्री मिश्रीलाल जी ने आपस के साम्प्रदायिक झगड़ों को मिटाने या एकता कराने के उद्देश से अनशन-किया। कुछ दिन बीत जाने पर भी अनशन-समाप्ति के कोई चिह्न नजर नहीं आते थे व मुनिजी के प्राण खतरे में पड़ गये। इससे स्वभावतः हीं जैन श्रावकों व साधुओं में बड़ी हलचल मची। उन दिनों ब्यावर में एक-दो जैन मुनि ऐसे रहते थे जो मुझपर कृपा रखते थे। इस कठिनाई के अवसर पर उन्होंने मुझे बुलाया और कहा कि ऐसा उपाय कीजिए जिससे मुनि के प्राण बच जायं। उनकी यह प्राण बचाने वाली दलील मुझे नहीं जंची। मैंने उनसे कहा–'मुनिजी एक ऊंचे उद्देश से अनशन कर रहे हैं। हो सकता है कि इसमें उन्होंने जल्दबाजी की हो, परन्तु हमें उनका उद्देश पूर्ण करने की अधिक चिन्ता रखनी चाहिए, न कि उनके प्राण बचाने की। वे भी मुनि हैं और आप लोग भी मुनि हैं। मुनियों को प्राणों का इतना मोह क्यों होना चाहिए ? हम लोग जो कि गृहस्थ हैं, ऐसा मोह रखें तो चल सकता है। पर मुझे खुद ऐसा मोह नहीं होता। मनस्वी पुरुषों के सामने उनका उद्देश मुख्य होता है। उसकी सिद्धि के लिए वे प्राणों का कुछ मूल्य नहीं समझते। मुझे तो उल्टा यह डर लगता है कि हम लोगों के इस मोह से मिश्रीलालजी में कहीं कोई कमजोरी न आने लगे। अतः यदि मेरा बस चले तो मैं सम्प्रदायों में एकता कराने की अवश्य कोशिश करूं और इस तरह उनके प्राण

बचाने का उद्योग करूं। परन्तु येन-केन-प्रकारेण मिश्रीलालजी को समझा-बुझाकर अनशन छुड़ाऊं—यह मुझसे न हो सकेगा। हां, यदि उनके उपवास में कोई दोष या गलती मालूम देगी तो मैं जरूर उनसे कहूंगा कि यह अभीष्ट मृत्यु नहीं, आत्म-घात है। उसी समय किसी ने कहा— प्राण बचाना भी तो अहिंसा है। मैंने कहा—'अहिंसा का यह गलत अर्थ है। किसी के उद्देश की परवा न करते हुए उसकी जान बचाने का जैसे-तैसे उद्योग करना सच पूछो तो उस व्यक्ति के प्रति बड़ी हिंसा है। इतने महान् त्याग के द्वारा वह जो वस्तु हमें समझाना चाहता है उसे तो हम एक ओर रख दें व केवल उसके प्राण बचाने की बातें करें तो यह उसके त्याग की बुरी तरह अवहेलना ही हुई। इससे न उसका उद्देश ही पुरा होगा, न उसके प्राण ही बचेंगे, यदि वह सच्चा आदमी हुआ।'

मुनियों ने कहा—आपने बिलकुल सच कहा है।

  

इससे मिलता-जुलता एक और प्रसंग मुझे याद आ रहा है। मांगरोल (काठियावाड़) में गो-वध बन्द कराने के उद्देश्य से श्री रामचन्द्र वीर बम्बई में अनशन कर रहे थे। ये वैराट (जयपुर) के रहने वाले हैं और १६२० में हम लोग जेल में कुछ समय एक साथ रह चुके हैं। मुझ पर कुछ श्रद्धा भी रखते थे। इत्तफाक ऐसा हुआ कि जिस दिन अखबारों में यह समाचार छपे कि रामचन्द्रजी की हालत खराब होरही है, बलगम में खून आने लगा है, उन्होंने मौन ले लिया है और डाक्टरों ने हिदायत दी है कि उनसे कोई मिले-जुले नहीं व उन्हें पूरा आराम दिया जाय, उसी दिन मैं बम्बई पहुंचा। खबर पढ़ते ही न रहा गया व उनके स्थान पर गया। मेरे वहां जाते ही वे उठ बैठे, पलंग से नीचे उतरकर मुझे प्रणाम किया व बातें करने लगे। मैंने कहा—'यह शिष्टाचार दिखाने का अवसर नहीं है। आपकी हालत नाजुक हो रही है, प्राण संकट में हैं, डाक्टरों की सलाह है आप बिलकुल आराम करें, तो इतनी तकलीफ की

क्या जरूरत ? और फिर आप बोलने भी लगे। आपने तो मौन लिया है न ? मैं तो सिर्फ आपकी हालत देखने आया—मुझसे रहा नहीं गया। अब अगर मेरे आने से आपके शरीर का कष्ट बढ़ा तो मुझे बड़ा दुःख होगा। आप चुप साधकर लेट जाइए।'

'ठीक है, लेकिन आपके आजाने के बाद मैं बिना बोले कैसे रह सकता था ?' मुझे मालूम हुआ कि इससे पहले महात्माजी ने भी उन्हें लिखा था कि उपवास छोड़ दो, परन्तु वे डटे रहे। मेरे आने से न जाने क्यों उन्हें यह शंका होगई कि मैं उनका उपवास छुड़ा न दूं। अतः उन्होंने मुझसे कहा—'आपसे एक प्रार्थना है।' मैंने कहा—'सो क्या है ?' 'और सब कीजिएगा, पर मेरे उपवास छुड़ाने का यत्न मत कीजिएगा। गोमाता के प्राण न बचने तक मेरा संकल्प है कि मैं उपवास जारी रखूंगा।'

मुझे यह प्रार्थना अटपटी लगी। मैंने उनसे कहा—'आपको यह शंका क्यों होनी चाहिए ? मैं उन आदमियों में से नहीं हूं जिन्हें प्राणों का मोह हो, न अपने न औरों के। प्राण देने की जरूरत है तो जरूर देने चाहिएं। आप गोमाता को बचाने के लिए प्राण दे रहे हैं। इससे अच्छा उद्देश और आपके प्राण-दान का अवसर क्या हो सकता है ? मैं तो यह मानता हूं कि यदि आपके अकेले प्राण-दान से गोमाता न बची तो औरों को भी देने चाहिएं। अतः आप मुझसे यह आशंका मत रखिए। परन्तु आपके मन में जो यह शंका पैदा हुई, उससे मुझे ऐसा लगता है कि इसमें कहीं-न-कहीं कचाई होनी चाहिए। यदि आपने सोच-समझकर ही अनशन किया है तो फिर आपको निःशंक रहना चाहिए, और कोई भी आपको समझावे, इससे हटाना चाहे तो आपको हटना नहीं चाहिए। हां, सत्याग्रही का यह कर्तव्य जरूर है कि वह सत्य के आने का रास्ता न रोके। समझो, आपके उपवास में यदि मुझे कोई कचाई दीख पड़े, कमी या भूल मालूम हो तो क्या यह मेरा धर्म नहीं है कि आपको बताऊं और आपका धर्म नहीं है कि उसे सुनें और उसपर

विचार करें ? सत्याग्रही सत्य का प्रकाश चारों ओर से आने देता है और अपने दावे को फिर उसके प्रकाश में जांचता रहता है। इसके खिलाफ यदि वह प्रकाश का रास्ता रोक दे, तो फिर वह सत्याग्रही नहीं रहा। अतः मैं तो इस समय आपसे यदि कुछ कहना चाहता भी हूं तो इतना ही कि आप अपना अनशन उसी दशा में बन्द करें जब या तो आपकी प्रतिज्ञा या मांग पूरी होजाय, या आपको ऐसा लगे कि अनशन करने में अपन ने जल्दी की है। जब मन यह कहने लगे कि 'जल्दबाजी कर गये' तो फिर उपवास जारी रखना आत्म-हत्या करने के बराबर है—अपने प्रति घोर हिंसा है। उस समय आपको अन्तरात्मा से मरने का बल नहीं मिलेगा, और लोक-लाज से मरोगे तो अधोगति को प्राप्त होगे। जो हो अब तो आप निश्चिन्त होजाओ—मैं आया हूं। गोमाता को बचाने में मैं भी अपनी शक्ति लगाऊंगा। पूज्य बापू को भी लिखे देता हूं कि वे निश्चिन्त रहें। मैं अब स्थिति संभाल लूंगा। और आपको अनशन से उसी समय हटाने का प्रयत्न करूंगा, बल्कि तब मेरा धर्म होजायगा, कि जब आप खुद यह महसूस करने लगो कि उपवास में जल्दी कर डाली, अब न तो गोमाता बचती है न आपके प्राण ही।'

ईश्वर ने किया तो दो ही दिन के भीतर ऐसा आश्वासन आगया, जिससे रामचन्द्र वीर की मांग पूरी होजाने का पूर्ण विश्वास होगया, व उनका अनशन अच्छी तरह समाप्त हुआ।

301

: ३७ :

बिजोलिया-सत्याग्रह

बिजोलिया का समझौता हो जाने के बाद ही मैं १९३० में नमक-सत्याग्रह के सिलसिले में जेल चला आया। १९३३-३४ में इसका दौर जब तक खत्म न हो पाया, मैं तीन बार जेल गया। पहली बार सजा दो साल की हुई थी मगर गांधी-इर्विन या दिल्ली-सन्धि के कारण एक साल बाद ही छोड़ दिया गया। दूसरी गोल मेज परिषद् के बाद ही फौरन दूसरा सत्याग्रह शुरू हुआ। दोनों के बीच का काल दिल्ली-सन्धि-काल समझना चाहिए। प्रथम बार के जेल-वास के दर्मियान मुझे बिजोलिया की काफी चिन्ता रही। वैसे तो मैं यही मानकर चला था कि ट्रेंच साहब शेष जमीन वापस दिलाने की पूरी कोशिश करेंगे। पर मुझे समाचार मिलते रहते थे कि अभी तक कुछ नहीं हुआ। एक बार एकाएक मुझे खबर मिली कि 'त्याग-भूमि' के एक लेख के कारण ट्रेंच साहब, व महाराणा साहब, बहुत नाराज हो गये हैं और अब वे बिजोलिया के मामले में मुझसे कोई संबंध नहीं रखना चाहते। बिजोलिया-समझौते में ट्रेंच साहब के साथ ही श्री महाराणा साहब ने, जो उस समय राजकुमार थे व महकमे खास के आला अफसर थे, अच्छी सहायता दी थी। मेरे मन में दोनों के प्रति कृतज्ञता का ही भाव था। लेकिन जब मैंने यह सुना तो मैं एक दम चकित हो गया। 'त्याग-भूमि' के उस लेख की कापी मैंने देखी तो समझ गया कि उनके बदले हुए रुख का असली कारण क्या है। उस लेख में उदयपुर के शासन की व खास करके श्री

महाराणा साहब के कार्यों की आलोचना की गई थी। उसकी शैली मुझे नापसंद हुई व यदि मैं बाहर होता तो वह उसी रूप में कदापि नहीं छप सकता था। परन्तु मेरे जेल में रहने से उसकी जिम्मेदारी मुझपर कैसे आयद हो सकती थी? अतः मैंने तुरन्त ट्रेंच साहब को पत्र लिखा कि लेख देखकर मुझे भी अफसोस हुआ—मैं बाहर होता तो ऐसा नहीं हो सकता था। लेकिन जेल में स्थित व्यक्ति पर उसकी जिम्मेदारी डालना व इस कारण उससे एक सार्वजनिक हित के मामले में असहयोग रखना न्याय्य व औचित्य-पूर्ण नहीं है। लेकिन उस लेख से दोनों इतने भड़क चुके थे कि ट्रेंच साहब ने जवाब लिखा कि 'त्याग-भूमि' पत्र आपका है। आप उसकी जिम्मेवारी से नहीं बच सकते। हम लोगों ने निश्चय कर लिया है कि अब बिजोलिया के मामलेमें आपसे कोई सम्बन्ध न रखा जाय। जब जेल से मैंने उन्हें पत्र लिखा था तो यह आशा कतई नहीं रखी थी कि वे जवाब देंगे। पर उन्होंने एक राजबन्दी को जेल में जवाब देने की शिष्टता व साहस दोनों दिखाये—इसके लिए उनके प्रति मेरा मान बढ़ा। परन्तु इस जवाब की अनुचितता व युक्ति-हीनता से मेरे मन में दुःख भी हुआ। यह घटना एक ओर जहां देशी-राज्य के अधिकारियों के छुई-मुई-पन पर अच्छा प्रकाश डालती है, तहां अखबारनवीसों को उनकी जिम्मेदारी का भी ज्ञान कराती है। पत्र-सम्पादक दो तरह के होते हैं—एक वे जो केवल पत्र-सम्पादन करते हैं, अपने दफ्तर में रहकर लेख-टिप्पणी लिख देते हैं, जनता के अन्दर प्रकृत कार्य नहीं करते हैं। इससे उन्हें यह सोचने की जरूरत ही नहीं पड़ती कि इसका असर हमारे कामों पर क्या पड़ेगा? दूसरे वे जो तरह-तरह के कामों की जिम्मेदारी लिये रहते हैं और मुख्यतः उनकी सफलता के लिए पत्र निकालते हैं। दूसरे पत्रकार 'मिशनरी' श्रेणी में आते हैं। 'त्याग-भूमि' ऐसी ही पत्रिका थी। उसके मुख्य सम्पादक ने—मैंने—तरह-तरह के दूसरे कामों की जिम्मेदारी ले रखी थी। यदि तत्कालीन सम्पादक इस बात को अनुभव करते व साथ ही उन्हें यह भी मालूम होता कि बिजोलिया-प्रकरण में

श्री महाराणा साहब ने मदद की थी तो वे उस लेख की कटुता या उग्रता जरूर कम कर देते। आलोचना का अर्थ किसीपर टूट पड़ना ही तो नहीं होता। आलोचना का अर्थ यह है कि न्यायोचित व सच्ची बात कही जाय, पर कही जाय मौका देखकर व ऐसे तरीके से जिससे सुनने वाले पर वाञ्छनीय असर हो। जब मैं 'सरस्वती' में था तो एक बारभारत या यू० पी० शिक्षा-विभाग की रिपार्ट की बड़ी कड़ी आलोचना लिखकर मैं पंडितजी (स्व० द्विवेदीजो) को दे आया। उन्होंने मुझे उसे देखकर एक सूत्र बताया, आलोचना लिखते समय यह सोचना चाहिए कि जिसकी हम आलोचना कर रहे हैं वह हमारे सामने है और सुन रहा है। जो बात हम किसी के मुंह पर न कह सकें उसे उसके पीठ पीछे कहना कायरता है। उसका हमें अधिकार नहीं है, व उसका असर भी अनुकूल नहीं होता। हम अक्सर देखते हैं कि लोग पीठ पीछे वाही-तबाही बकते हैं, सामना होने पर दुम हिलाने लगते हैं। आचार्यजी की यह शिक्षा मेरे हृदय में सदा के लिए अंकित होगई है। और लिखते समय ही नहीं दूसरों के विरुद्ध आपस में भी बात करते समय मुझे उसका अक्सर स्मरण हो आता है। गीता में भगवान् ने वाणी के इस तप के विषय में उत्तम कसौटी बताई है—

हितार्थ, प्रेम से पूर्ण, वाचा सत्य, चुभे न जो।
स्वाध्याय करना नित्य वाणी का तप है कहा ॥ (हिंदी गीता)

इस एक लेख के कारण जो परिस्थिति उलझी व विकट हुई उसकी कीमत बिजोलिया वालों को बहुत चुकानी पड़ी। मेवाड़ के शासक व अधिकारी भी इस जिम्मेदारी से बरी नहीं किये जा सकते; क्योंकि जेल से छूटते ही मैंने ट्रेंच साहब को खत लिखा कि मुझे एक बार मिलने का अवसर दीजिए, मैं आपकी व श्री महाराणा साहब की सब शंकाओं व सन्देहों को दूर कर दूंगा। प र वे किसी भी तरह टस-से-मस न हुए। इससे बढ़कर अनुदारता, मूढ़ता व ज्यादती और क्या हो सकती थी ?

अब किसानों ने मुझसे पूछा कि क्या करना चाहिए ? मैंने देखा कि

राजवालों ने न तो अब तक जमीनें ही लौटवाईं, न कोई सच्ची कोशिश हुई ही दीखती है, न ट्रेंच साहब मुझसे मिलना ही चाहते हैं—बिजोलिया के मामले में संबंध रखना तो दूर—तब सिवा सत्याग्रह के और क्या मार्ग बच रहता है ? मैंने उनसे कहा कि आपकी तैयारी हो तो सत्याग्रह कर सकते हैं। मैंने उनके नेता श्री माणिकलालजी को बताया कि किस-किस तरह उनकी तैयारी की जांच करनी चाहिए व कहा कि किसानों को खुद अपने बल पर सारी लड़ाई लड़नी है, बाहर से उन्हें विशेष सहायता की आशा न रखनी चाहिए।

राज्य को विधिवत् नोटिस देकर उसी वर्ष (१६२१) की अखातीज को सत्याग्रह शुरू होगया—किसानों ने उस जमीन पर अपने हल चला दिये, जो उनकी पुश्तैनी थी, व राज्य ने जिसका पट्टा दूसरों को दे दिया था। कानून एक तरह से नये बापीदारों के पक्ष में था, जब कि न्याय-नीति पुराने मालिकों के। राज्य की ओर से घोर दमन हुआ, किसान-नेता व प्रतिष्ठित सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जैसे श्री अचलेश्वरप्रसाद व श्री शोभालालजी गुप्त, आदि बुरी तरह और जूतों से भी पीटे गये, जिसके वर्णन के लिए पाठक एक अलग पुस्तक की राह देखें।

एक ओर तो यह अत्याचार, दूसरी ओर उदयपुर राज्य ने, उस समय उसके सलाहकार या प्रधान शासक सर सुखदेव प्रसाद थे—अजमेर के तत्कालीन कमिश्नर गिब्सन साहब के द्वारा मुझे एक चेतावनी दिलवाई जिसमें कहा गया था कि हरिभाऊ उपाध्याय बिजोलिया में आपत्तिजनक पर्चे बंटवाते हैं, 'त्याग-भूमि' में झूठी खबरें छापते हैं और किसानों को भड़काने के लिए अपने आदमी भेजते हैं। इसलिए उन्हें चेतावनी दी जाती है कि यदि वे अपनी इन कार्रवाइयों से बाज न आवें तो रियासत उन्हें गिरफ्तार कर लेगी और उनके कार्यकर्त्ताओं को मेवाड़ में प्रवेश करने पर सजा देगी, क्योंकि मेवाड़ के शासक नहीं चाहते कि कोई बाहरी आदमी उनके मामले में दस्तन्दाजी करें।'

इसका जो जवाब मैंने जबानी दिया उससे गिब्सन साहब बहुत प्रभावित

हुए। मेरा उनका साधारण परिचय पहले से था। मैं बिना काम कभी किसी से—खासकर बड़े आदमियों से, चाहे वे नेता वर्ग के हों या अधिकारी वर्ग के—न मिलता हूं, न चिट्ठी-पत्री ही लिखता हूं। जहां किसी को तकलीफ में या जरूरत में देखता हूं तो खुद होकर भी अपनी सेवाएं अर्पित कर देता हूं। गिब्सन साहब ने पत्र लिखकर मिलने के लिए बुलाया तो चला गया। फल यह हुआ कि जहां उन्होंने मुझे चेतावनी देने के लिए बुलाया था वहां मेरे कार्य के प्रति उनके मन में उल्टी हमदर्दी पैदा होगई। व उससे मुझे बिजोलिया के मामले को निपटाने में एक अंश तक सहायता भी मिली। मैंने उनसे कहा—बिजोलिया में मैंने जो कुछ किया या कर रहा हूं उसपर मुझे जरा भी पछतावा नहीं है। जब तक बिजोलिया के किसानों के साथ न्याय नहीं किया जायगा तब तक मैं बराबर अपनी कोशिश व कार्रवाई जारी रखूंगा। उदयपुर के शासक शौक से मेरे खिलाफ जो कुछ कार्रवाई करना चाहें जरूर करें, मुझे उससे कोई परेशानी न होगी। मैं अपनी जिम्मेदारी को खूब समझता हूं व उसे समझकर ही बिजोलिया में अपना कर्तव्य-पालन कर रहा हूं। परन्तु यदि ए० जी० जी० को बिजोलिया-संबंधी सही खबरें मालूम हों तो वे बजाय मुझे चेतावनी देने के मेवाड़ के शासकों को चेतावनी देना जरूरी समझेंगे। बिजोलिया में जिस कदर दमन व अत्याचार होरहा है उसपर वे एक जांच-कमेटी बिठावें तो मैं अपने दावे को सच साबित करने के लिए तैयार हूं।

'लेकिन यह भी तो सोचने की बात है कि आखिर किसान व मैं इस हद तक जाने के लिए क्यों उतारू हुए हैं? कोई नहीं चाहता कि रास्ते चलते योंही जेल व दमन की सख्तियों को सहें व अपनी जान को मुफ्त में परेशानी में डालें।' मैंने उनसे कहा कि जब आपने मुझे रियासत का पक्ष लेकर चेतावनी दी है तो आपका यह भी फर्ज है कि मेरा जवाब भी पूरा सुन लें। मेरी इस भूमिका से बहुत प्रभावित होकर वे बोले—जरूर, जरूर। मैं बहुत ध्यान से सुनूंगा।

तब मैंने बताया कि किस तरह पहले एक समझौता हुआ था, जिसमें बापी की जमीनें भी असली मालिकों को दिला देना तय हुआ था। किस तरह 'त्याग-भूमि' वाले लेख से गलत-फहमी हुई व रियासत ने बेजा तौर पर कड़ा रुख अख्तियार किया। मैंने किस-किस तरह से मुलाकातें मांग-मांग कर व अन्य प्रकार से मिल-जुल कर इसे सुलटाने के प्रयत्न किये। पर अधिकारी टस-से-मस न हुए। तब गिब्सन साहब से पूछा—क्या मैं किसानों को यह सलाह देता कि चूड़ियां पहन कर बैठे रहो, व पुश्तैनी जमीन का खयाल छोड़ दो? मेरी जगह अगर आप होते तो उन्हें सलाह देते "अपनी जमीनों पर कब्जा कर लो व जो सामना करने आवें उन्हें गोलियों से उड़ा दो।" मैं चूंकि महात्माजी का अनुयायी हूं व अहिंसा में विश्वास रखता हूं, अतः मैंने उन्हें सलाह दी कि अपनी जमीनों में हल चला दो व इसके परिणाम में जो कुछ कष्ट मिलें उन्हें शान्ति से सहन कर लो। ऐसे सत्याग्रह की सलाह देने में मैंने कौन-सी गलती की? अब भी यदि आप बतला दें कि फलां कार्रवाई करनी बाकी रह गई थी, व सत्याग्रह में मैंने जल्दी या गलती की है तो मैं उसपर विचार करने के लिए तैयार हूं। घुटने टेककर गिड़गिड़ाना ही बाकी रह गया था, और मैं इसकी सलाह किसानों को कदापि नहीं दे सकता था। यदि मैं उनका सच्चा सलाहकार हूं तो उन्हें कायर बनने की या अत्याचार को चुपचाप बरदाश्त करने की सलाह कदापि नहीं दे सकता था। इसके लिए राज्य सत्याग्रही किसानों को कानून के माफिक सजा दे सकता था; परन्तु इसके अलावा पुलिस व ठिकाने के आदमियों द्वारा उन पर, उनकी स्त्रियों पर, व उनके सहायक कार्यकर्त्ताओं पर जो लाठी-जूतों से मार-पीट की गई, जिसमें कइयों के चोटें भी आई हैं, उसका कोई जवाब हो सकता है? फिर सर सुखदेव व ट्रेंच साहब तो मेवाड़ के लिए 'स्वदेशी' हो गये व हम लोग 'विदेशी' कैसे? 'त्यागभूमि' में झूठी खबरें छापने के बारे में तो मेरा इतना ही निवेदन काफी है कि मैंने बहुत जिम्मेदार संवाददाता वहां भेजे हैं, उन्हें यह हिदायत है कि समा-

चारों में अत्युक्ति जरा भी न हो। फिर भी उनकी खबरों में मुझे जो बढ़ाकर लिखी लग जाती है उसे मैं सौम्य बना देता हूं। इस सावधानी के बावजूद मैं आप ही से कहता हूं कि आप अपना आदमी या कोई कमेटी वहां जांच के लिए भेज दें व उनकी रिपोर्ट के फलस्वरूप जितने वाकयात गलत साबित होंगे उनका प्रतिवाद त्यागभूमि में छाप दूंगा। व खुले दिल से माफी मांग लूंगा। फिर गलत खबरों का प्रतिवाद खुद रियासत भी तो कर सकती है। वह क्यों नहीं प्रतिवाद भेजती?

अब तो गिब्सन साहब के लिए आपत्ति करने की कोई गुंजायश नहीं रह गई थी। मैंने उनसे कहा—आप ही कोई उपाय बतायें जिससे मैं सत्याग्रह बन्द करा दूं व किसानों का हक उन्हें मिल जाय। अन्त को उन्होंने बड़ी सहानुभूति के साथ मेरा लिखित जवाब ले लिया और संभवतः अपने नोट के साथ ए० जी० जी० को भेज दिया जिसके फलस्वरूप, मुझे बाद में मालूम हुआ कि, सर सुखदेव को ए० जी० जी० को सविस्तर जवाब देना पड़ा।

गिब्सन साहब के इतना अनुकूल बन जाने का सिवा इसके और कोई कारण नहीं था कि मैंने सत्याग्रह के पहले तक अजहद मिलनसारी सौम्यता व सौजन्य से काम लिया, जो कि अहिंसा के ही अंग-उपांग हैं। अन्त तक किसानों के मन में ठिकाने या राज्य के प्रति कटुता न पैदा होने दी। बल्कि उनके मन में आत्म-बलिदान व कष्ट-सहन के बल को बढ़ाने व संगठन मजबूत करने पर ही जोर देता रहा।

: ३८ :

सत्याग्रह का अन्त

बिजोलिया-सत्याग्रह के अन्त से भी हमें काफी शिक्षा मिल सकती है। नेता का काम केवल लड़ाई लड़ते चले जाना ही नहीं है। जब-जब बीच में समझौते के अवसर आवें तब-तब उनका स्वागत करना सत्याग्रही नेता का कर्तव्य होता है। वह तभी व तभीतक जनता को कष्ट-सहन में डालता है जब तक कि लक्ष्य-प्राप्ति में कठिनाइयां व बाधाएं पड़ती जायं। हां, समझौता सम्मान-पूर्वक होना चाहिए। अर्थात् जिसमें किसी को अपना सिद्धांत या मुख्य नीति न छोड़नी पड़े। ऐसे गैर-जिम्मेदाराना नेतृत्व का एक बुरा उदाहरण मैंने कलकत्ते में देखा था। १९२९ की बात है। कलकत्ते की केशोराम काटन मिल्स में मजदूरों ने हड़ताल कर रखी थी। मिल के व्यवस्थापकों ने शायद मजदूरी देने की पद्धति में कुछ परिवर्तन किया था, जिससे दफ्तर के काम-काज में या गिनती करने में सहूलियत होती थी। यह मजदूरों को नापसंद था—इसी विवाद पर हड़ताल हुई थी। एक दिन श्री बिड़लाजी—घनश्यामदासजी—ने मुझे कहा—'हरिभाऊजी, आप जरा दिलचस्पी लेकर इस हड़ताल को समाप्त करा दीजिए न। आप तो मजदूरों में भी काम करते हैं!' मैं उन्हीं के यहां ठहरा हुआ था। मैंने कहा—'मैं यहां के मजदूरों के लिए एक दम नया आदमी हूं। न उन्हें जानता हूं न उनके नेताओं को। फिर मैं आपका मित्र हूं व आपके ही साथ ठहरा भी हूं। यदि उन नेताओं ने मजदूरों से कह दिया कि ये तो मालिकों के मित्र हैं उन्हीं के यहां ठहरे

हैं व आते-जाते रहते हैं तो मेरा वहां क्या असर पड़ेगा ? लेकिन आपको सलाह देने से यह हड़ताल जल्दी खतम हो सकती है।' तो उन्होंने कहा 'अच्छा यही सही।' मैंने पूछा—'प्रश्न दर असल नफे-नुकसान का है, या वैसे ही सटर-पटर है।' तब उन्होंने पूर्वोक्त गिनती की नई पद्धति का जिक्र किया व कहा कि मजदूरों की शिकायत है कि इससे दरअसल हमें मिहनताना कम मिलता है। तो मैंने पूछा—

'व्यवस्थापकों की नीयत दर-असल कुछ अप्रत्यक्ष कटौती कर लेने की है या केवल दफ्तर की सुविधा का ही प्रश्न है ?'

'नहीं जी, अपने को भगवान् ने बहुत पैसा दिया है। इस तरह आड़े-टेढ़े तरीकों से गरीबों का पेट काटने की अपनी नीयत नहीं है। सिर्फ दफ्तर की सुविधा का ही प्रश्न है। कम क्लर्कों से काम चल जाता है।'

तो मैंने कहा—'तब तो और भी मामला आसान होगया। यदि मजदूरों को असन्तोष व सन्देह है तो पहले वाली ही परिपाटी जारी करा दीजिए। क्यों इतनी-सी बात के लिए इतने दिनों तक हड़ताल चलने दी ? मजदूरों का झगड़ा व्यवस्थापकों से है, मालिकों से तो है नहीं। वे अब तक आपके पास पहुंचे भी नहीं हैं। उनका एक शिष्ट-मण्डल आपसे मिल ले व आप पुराने तरीके को चालू रखने का उन्हें आश्वासन दे दीजिए।'

उन्हें यह सलाह जंच गई; पर साथ ही उन्होंने जोर देकर कहा कि आप एक बार मिल में हड़ताल की दशा तो देख आइए। मैं गया—वहां जो अपमानजनक दृश्य देखा उसे अब तक नहीं भूला हूं। मिल के मैनेजर साहब के कमरे में पहुंचते ही क्या देखता हूं कि एक मजदूर अपना साफा उतारकर मैनेजर साहब के पैरों में डाल रहा है व पैर छूकर हाथ जोड़कर और गिड़गिड़ाकर विनती कर रहा है कि कोई ऐसा रास्ता निकाल लीजिए जिससे हड़ताल जल्दी खतम हो व मिल चालू हो ताकि हमारे बाल-बच्चों की परवरिश होने लगे। मैं हड़ताल टूटने के इस दयाजनक दृश्य को देखने के लिए तैयार नहीं था।

मेरे जाते ही मैनेजर साहब उठे, अपनी कुर्सी उन्होंने मुझे दी। मैंने उन शहरी बाबुओं का परिचय पूछा जो उस कमरे में एक तरफ खड़े थे। मैनेजर ने बताया कि ये हड़तालियों के लीडर हैं, इनमें काम करते हैं। सुनते ही मेरे सारे तन-बदन में आग लग गई। थोड़ी देर बाद मामूली हालात जानकर मैं वापस लौट आया। तब श्री बिड़लाजी ने पूछा—'कहो क्या हाल देखा?'

मुझसे न रहा गया। मैंने छूटते ही कहा—'ऐसा बुरा कि कुछ कह नहीं सकता।' उस मजदूर के साफा उतारकर पैर छूने व नेताओं को खड़ा देखने के दृश्य का वर्णन करके मैंने कहा—'आपके मैनेजर की यह जुर्रत कि एक मजदूर को इस तरह से अपने पैर छुआकर अपमानित होने दे! उन्होंने उसे मना तक नहीं किया। वे तो ठीक, आप मालिक हैं, पर अगर मजदूर इस तरह आपके पैरों पर भी पगड़ी रखें तो मैं इसे बरदाश्त नहीं कर सकता। जो पसीने की रोटी खाते हैं, क्या उनके कोई इज्जत या स्वाभिमान नहीं होता?'

और उन नेताओं पर तो मुझे इतना गुस्सा आया था कि बेंतों से पीटा जाय। उनकी यह हालत कि मैनेजर के कमरे में एक बैंच भी उन्हें बैठने को नहीं दी गई, फिर खड़े-खड़े मजदूर का ऐसा अपमान देखते हैं! यदि मजदूरों में इस कदर कमजोरी आ गई थी तो इन्हें इतनी अक्ल होनी चाहिए थी कि समय पर ही चेतकर आपस में समझौते का रास्ता निकाल लेते। जिन लीडरों को न अपने स्वाभिमान का खयाल है, न अपने मजदूरों के, वे तीन कौड़ी के आदमी हैं! मजदूरी करने से मजदूर हकीर नहीं हो जाता। मालिक व नेता दोनों तरफ के आदमियों का फर्ज है कि मजदूरों के स्वाभिमान की रक्षा करें व उनमें वह न हो तो उसे जाग्रत करें।'

इसी सिलसिले में एक घटना मुझे इन्दौर के मजदूर-संघ की याद आ रही है। यह भी सम्भवतः २८-२९ की है। मैं उस समय वहां के मजदूर-संघ का उपसभापति था। मैं संघ के दफ्तर में गया तो क्या देखता

हूं कि संघ के सेक्रेटरी बड़ी मसनद लगाये बैठे हुए हैं व एक-दो मज-दूर खड़े-खड़े उनसे बात कर रहे हैं। गद्दी बिछी हुई थी, बेंच भी पड़े हुए थे, पर सेक्रेटरी ने उनसे बैठने के लिए नहीं कहा। मजदूर उन्हें 'हुजूर' सम्बोधन कर रहे थे, व वे मानो कोई सेठ या अफ़सर हों, ऐसे रौब से उनसे बात कर रहे थे व उनकी बातों का जवाब दे रहे थे। यह देख मेरा माथा ठनका। हम मजदूरों के सेवक, मजदूरों के संघ के कर्म-चारी, सेक्रेटरी तो वैतनिक कर्मचारी थे—मजदूरों से इस रौब व शान से बात करें ? मजदूरों के चले जाने पर मैंने सेक्रेटरी से पूछा—

'यह यूनियन किनका है ?'

वे चौंके,—'मजदूरों का है।'

'इसके खर्च का पैसा कहां से आता है ?'

वे फिर परेशान हुए—'मजदूरों के चन्दे से आता है।'

'आपको वेतन कहां से मिलता है ?'

अब तो वे हक्के-बक्के से होने लगे—'यूनियन से ही।'

'तो फिर आपका व मजदूरों का क्या रिश्ता रहा ?'

उनका चेहरा फीका पड़ने लगा—वे चुप रहे।

'मजदूर इस यूनियन के मालिक, सेठ व हम उनके गुमाश्ता, कारिन्दे ही हुए या नहीं ?'

'जी हां'

'तो फिर गुमाश्तों को मालिकों से किस तरह पेश आना चाहिए ? दुनिया में कहीं ऐसा भी होता है कि मालिक तो नौकरों की तरह खड़े रहें, 'हुजूर-हुजूर' कह रहे हैं व गुमाश्ता-मुनीम सेठ व राजा-रईस की तरह बैठे हुए रौब से बातें कर रहे हैं ?'

वे बहुत शरमाये, बोले—'मैंने तो अब तक इस तरह सोचा नहीं था।'

'आयन्दा इस संघ में मजदूर को 'आप' कहकर बतलाइएगा, व गद्दी, जाजम, बेंच पर उन्हें बैठने के लिए कहिएगा, उनके साथ बहुत इज्जत व अदब से पेश आइएगा। हम पढ़े-लिखे हैं, इसके यह मानी

नहीं हैं कि अपढ़ मजदूरों की इज्जत का खयाल न करें। बल्कि पढ़े-लिखे होने की वजह से हम पर और ज्यादा जिम्मेदारी है कि हम शराफत, नम्रता, अदब में किसी से पीछे न रहें।'

× × ×

कुछ विषयान्तर होगया, परन्तु ये संस्मरण तो जैसे याद आते जा रहे हैं, लिखता जारहा हूं। मैं बिजोलिया-सत्याग्रह के अन्त की कथा कह रहा था। सत्याग्रह के चलते हुए भी मैंने ऐसे पैगाम अधिकारियों को भिजवाये जिनसे उन पर रोशन हो जाये कि मैंने बहुत अनिच्छापूर्वक, बड़ी मजबूरी से, केवल कर्तव्य समझकर, महज न्याय के लिए किसानों को इस आग की भट्टी में कूदने की सलाह दी है और इससे मैं प्रसन्न नहीं हूं; परन्तु किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगी। सत्ता अंधी होती है, अहंकार उसका जबर्दस्त पृष्ठ-पोषक होता है। दोनों मनुष्य की बुद्धि व विवेक को मलिन कर देते हैं। न्याय अन्याय, भावी परिणाम को देखने की उनकी आंखों पर वे परदा डाल देते हैं। फिर अक्सर राजा-महाराजाओं की अपेक्षा कई बार उनके नौकरों, अधिकारियों में यह ग़रूर व हठधर्मी बहुत पाई जाती है। मेवाड़ में उस समय सर सुखदेव जैसे 'फौलादी पंजे' की हुकूमत थी। इसी बीच मुझे कुछ ऐसे आसार मालूम पड़ने लगे कि दमन के फलस्वरूप किसानों में कुछ थकान-सी आरही है या जल्दी ही आजायगी, और यदि ऐसा हुआ तो रही-सही बाजी भी हाथ से निकल जायगी। उस दशा में सर सुखदेव किसानों को इस तरह पीसकर रख देंगे कि बरसों तक उठना मुश्किल होगा। मेरी अन्तरात्मा ने प्रेरणा की कि यही समय संभलने का है। समझौते का कोई मार्ग तुरन्त ढूंढना चाहिए। मेरे मन में कुछ योजना बनी व मैं तुरन्त महात्माजी के पास बारडोली पहुंचा। सारी स्थिति उन्हें सुनाई व अपनी योजना भी उनके सामने रखी। उन्होंने उसे पसंद किया व कहा कि मेरी समझ से इसमें समझौते की गुंजायश है। अभी तुम सत्याग्रह स्थगित कर दो, मैं मालवीयजी महाराज या जमना-

लालजी को मध्यस्थ बनने के लिए प्रेरित करूंगा। बाद में यही तय हुआ कि महात्माजी की ओर से जमनालालजी ही बीच में पड़ें। मैंने तुरन्त अखबारों को खबर भिजवाई कि 'बिजोलिया-सत्याग्रह' की सारी परिस्थिति महात्माजी के सामने रखी गई, उन्होंने कहा इसमें अभी समझौते की गुंजाइश है, जब तक मैं इसका प्रयत्न न कर देखूं तब तक सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। उनके इस आदेश के अनुसार मैंने बिजोलिया के सत्याग्रहियों को हिदायत दी है कि वे फिलहाल सत्याग्रह स्थगित कर दें।' पूज्य मालवीयजी ने इसमें काफी दिलचस्पी ली, सहायता दी व सर सुखदेव तथा जमनालालजी के बीच एक समझौता हुआ जिसमें किसानों को उनकी जमीन उचित समझौते के आधार पर वापस दिलाना तय हुआ। जिन्हें सजा मिल चुकी थी उनकी तरफ से मेवाड़ हाईकोर्ट में अपीलें दायर करना तय पाया व अपीलों में वे सब रिहा कर दिये गए।

मैं मानता हूं कि इस समय मैंने दूरन्देशी से काम न लिया होता तो अर्थ का अनर्थ होकर रहता। इसमें मुझे वही अहिंसा-भावना काम करती हुई दिखाई देती है कि यदि कम कष्ट से काम चल जाय तो अधिक कष्ट में किसी को न डालना चाहिए। अहिंसा के साधक के लिए तप तो कदम-कदम पर अनिवार्य है; परन्तु यदि वह विवेक से काम न ले तो वही तप दुराग्रह, अत्याचार, ज्यादती व एकांगी कठोरता का रूप धारण कर लेता है, जो कर्त्ता व उसके आस-पास के लोग दोनों को हानि पहुंचाता है व कभी-कभी तो उलटा पतन व अपमान के मुंह में भी डाल देता है।

: ३९ :

संयम का नमूना

प्रथम जेल-जीवन की दो-घटनायें लिखना ज़रूरी हैं। अपनी ज़िम्मेवरी का पूरा खयाल रखना एक सत्याग्रही के लिए परम आवश्यक है। जिम्मेवरी का मतलब है जिस काम को अंगीकार कर लिया, जिसकी शुरूआत की, जिसका वचन दे दिया, उसको अच्छी तरह निवाह देना। दो प्रसंग ऐसे याद आते हैं जिनमें मेरी ठीक-ठीक परीक्षा हुई।

एक प्रसंग है श्री नथमलजी चोरड़िया का। वे नीमच छावनी के लखपति सेठ थे। यादव-सम्मेलन के बाद से उनसे बहुत बरोपा हो गया था। बिजोलिया से एक बार हम दोनों लौट रहे थे कि रास्ते में मेरी उनसे बातचीत हुई। १९३० का सत्याग्रह सामने आ रहा था। मैंने उनसे कहा कि—'बापू साहब, सत्याग्रह नजदीक आरहा है। इसमें आपके घर से एक बलिदान चाहिए।' वह बहादुर तुरन्त बोला—'किसका'? मैंने कहा—'आपके तीन तो पुत्र हैं, चौथे आप हो। इनमें से किसी एक को दे दो।' उन्होंने चट से कहा—'तो मैं तैयार हूं, और केसर—उनकी विधवा लड़की—को भी लेता आऊं तो कैसे?' मैंने कहा—'सोना और सुहागा।' तो जरूर आवेंगे न? कब तक? उन्होंने उसी सांस में कहा—'जरूर व बहुत जल्दी।'

और अपने बड़े पुत्र माधोसिंह पर सारा कार-बार छोड़कर निश्चिन्त हो वे अजमेर आ गये और डिक्टेटरों की शृंखला में प्रान्त के एक डिक्टेटर बनकर जेल भी पहुंच गये। एक रोज जेलर ने मुझे बुलाकर एक

तार दिखाया; मुझे काटो तो खून नहीं। जेलर ने कहा—'कहीं बूढ़े के दम न निकल जायं।' इस कल्पना से मैं और बेचैन हो गया। मुझे अपनी जिम्मेवरी का खयाल आया कि मेरी ही प्रेरणा से ये जेल आये हैं। अब यदि घर की बरबादी होती है तो मुझे हर यत्न से उसे बचाना चाहिए। लेकिन इससे भी पहले जरूरी यह है कि बूढ़े के प्राण बचें।

मुझे यह पता नहीं था कि ऐसी घटनाओं को सहने की उनमें कितनी शक्ति है। किस तरह यह खबर उन्हें दी जाय कि जिससे उन्हें कम-से-कम सदमा हो। मैंने एक योजना अपने दिमाग में बनाई व भाई चौधरीजी व महोदयजी को वह तार दिखाया—वे दोनों भी सन्न रह गये। दफ्तर से जाते ही बैरक के लोग पूछने लगे कि क्या बात थी? क्यों बुलाया था जेलर ने? बात सहसा कहने की नहीं थी। बड़ी दुःख-दायी होने पर भी मुझे इतना संयम रखना था कि समय से पहले एका-एक किसी को मालूम न पड़े कि कोई गहरी बात है। मुझे सदा की तरह प्रसन्न वदन रहना था। पर भीतर तो बड़ी बेचैनी मच रही थी। मैंने एक बात के सिलसिले में बापू साहब को घूमने में साथ ले लिया। मैं यह टटोलना चाहता था कि उनमें शोक-जनक अवसरों पर धैर्य रखने की कितनी क्षमता थी। मैंने इधर-उधर की बात चलाकर पूछा—'बापू साहब, जब केसर बहन पर दुःख पड़ा (विधवा हुईं) तब आपने उसे किस तरह सहा? वे बोले—'भाई, सच पूछो तो मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम हुआ। मुंह पर दुपट्टा डालकर झूठ-मूंठ रोने का ढोंग कर लिया करता था।' मैंने सोचा कि जब जवान बेटी के विधवा होने के अवसर पर इन्होंने इतनी कड़ी छाती रखी तो आदमी हैं मजबूत हिये के। मुझे कुछ निश्चिन्तता हुई।

शाम को प्रार्थना के बाद भजनों का कार्यक्रम रखा था। चौधरीजी व महोदयजी से पहले ही तय हो गया था कि वैराग्य-पूर्ण व मृत्यु-संबंधी भजन गाये जावें, जिससे इनकी चित्त-वृत्ति उसी भाव में रँग जाय व वे उस शोकदायी समाचार को दृढ़ता से सुन सकें। 'अब हम

अमर भये न मरेंगे'—'मंगल मन्दिर खोलो' 'धीर धूरन्धरा, शूर साचा खरा, मरण नो भय ते तो मन न आणे।' 'रे शिर साटे नटवर ने वरिये—रे पाछुं तो पगलुं नव भरिये' आदि भजनों का तांता लगा दिया। बापू साहब भी मस्त होकर चिमटा लेकर लंगोट बांधे झूमते हुए भजन गाने लगे। मैं बीच-बीच में टोकता जाता था, बापू साहब, मस्ती तो खूब है, पर यह टिकी रहे तभी बात है। दुःख के अवसर पर भी मनुष्य इसी तरह मस्त रहे, तब उसे सच्चा बहादुर समझना चाहिए—आदि।

मुझे रात-भर नींद नहीं आई। इन्होंने इस धक्के को सह भी लिया तो आगे घर-बार का क्या होगा—इसी उधेड़-बुन में करवटें बदलता रहा। सुबह ही उनकी-मेरी साथ बरतन मांजने की ड्यूटी थी। हम लोग सब काम अपने हाथों से करते थे व १५-१५ दिन में एक जनरल मैनेजर नियुक्त कर दिया करते थे, जो सबको काम की ड्यूटी बांट दिया करता था। बातों-बातों में मैंने पूछा—'बापू साहब, आप हैं तो बड़े मजबूत दिल के—पर यह बताइए कि कौन-सी घटना से आपको सबसे ज्यादा दुःख हो सकता है?' इस प्रश्न पर वे चौंके। बोले—'क्या बात है? कल से तुम अजीब-अजीब बातें पूछ रहे हो?'

मैं—'बात तो है, पर मैं जानना चाहता हूं कि आप उसे कहां तक सह लोगे?'

'तो क्या बात है कहो न?' वे जरा चिन्तित स्वर में बोले।

'घर से बुरी खबर आई है।'

'क्या किसी के मरने की है।' वे अधिक आतुर होकर बोले।

'हां, है तो ऐसी ही। भला किसके मरने की खबर हो सकती है?'

'मेरे रिश्ते में एक बुढ़िया बीमार थी सो मर गई होगी और क्या?' उन्होंने कुछ इतमीनान से कहा।

'अच्छा, किसके मरने से आपको ज्यादा-से-ज्यादा रंज हो सकता है?'

'केसर के मरने से—क्या केसर मर गई ?' उन्होंने अधीर होकर पूछा।

'नहीं, केसर तो नहीं मरी।' उन्हें कुछ तसल्ली हुई। अब मुझे अन्दाज हो गया कि इस खबर से इन्हें कुछ कम ही धक्का लगेगा।

'तो फिर कौन मरा, बताओ न ?'

'पहले यह वादा कीजिए कि कल रात को भजन गाते वक्त जैसे रहे थे वैसे ही मस्त बने रहोगे, तो खबर सुनाऊं।' अब उनके हाथ बरबस ठहर गये। जरा झुंझलाकर बोले—

नहीं तुम मुझे बताओ क्या बात है, और कौन मरा है ?'

मैंने जेब से निकालकर तार उनके हाथ में दे दिया। उनका चेहरा फक हो गया। उसमें लिखा था—'माधोसिंह इन्दौर में यकायक मर गये।' इसके फलस्वरूप आर्थिक हानि भी कम न हुई थी।

अब वे उठकर जाने लगे। मैंने कहा—'चलिए हम सब मिलकर प्रार्थना करें।'

उनका गला भर आया, और बोले—'अब मुझे अकेला छोड़ दो।'

'नहीं, सो नहीं हो सकता। हम सब आपके पास रहेंगे।'

'नहीं, मुझे अकेला ही रहने दो। इसी में मुझे अधिक शान्ति मिलेगी।'

'तो प्रार्थना की तैयारी कबतक करें ?'

'घण्टे डेढ़ घण्टे बाद।' उन्होंने दृढ़ता के स्वर में कहा।

अपने ढोले पर वे सर पर चादर डालकर आसन बांधकर बैठ गये।

प्रार्थना के अवसर पर जो शांति उन्होंने दिखाई, उसके बाद जो भाषण दिया, उससे हमें ऐसा लगा कि यह असाधारण व्यक्ति है। यह तो उल्टा हमें सान्त्वना दिला रहा है। यह तो धैर्य का धनी है, और हम इसके आगे दरिद्र मालूम होते हैं। दूसरे दिन की घटना ने तो यह सिद्ध कर दिया कि उनका मनःसंयम एक योगी की कोटि का है।

मिलाई में किसी के मिठाई आई। वह इस संकोच से दुबक्कर

अपने ढोले की तरफ जा रहा था कि बापू साहब के सामने इस अवसर पर मिठाई का प्रदर्शन शोभा न देगा। उन्होंने भांप लिया और दौड़कर डलिया छीन लाये। पहले अपने मुंह में मिठाई डाली, फिर सबको खिलाई। हममें से किसी ने उलहना दिया तो कहने लगे—'बेटा मेरा मरा है। मुझसे अधिक रंज आप लोगों को नहीं हो सकता।' और फिर तो तरह-तरह की बोली बोलकर, स्वांग भरकर, हम लोगों को ऐसा हंसाया करते कि हम लोट-पोट हो जाते थे। मुझे तो बीच-बीच में यह शक भी हो जाता था कि कहीं इस सदमे का असर इनके दिमाग पर तो नहीं होगया है। उस समय मैंने उनसे कहा था—'जब तक मैं मौजूद हूं, आप माधोसिंह को भूल जायं।'

अब चोरडिया इस संसार में नहीं हैं। स्वोपार्जित ७० हजार का ट्रस्ट बालिकाओं की शिक्षा के लिए अपने जीवन-काल में ही बना गये थे। उनकी विधवा पुत्र-वधू को उसकी संचालिका बनने के योग्य बनाने का उन्होंने बहुत उपाय किया और अब संभव है परमात्मा उनकी इच्छा को पूर्ण भी कर दे। परन्तु उनके कुटुम्ब की जब भी कोई समस्या सामने आजाती है तो मुझे इस बात का जरूर स्मरण हो आता है कि मेरी प्रेरणा से चोरडियाजी जेल गये थे, और मुझे माधोसिंह की जिम्मेदारी अदा करनी है।

दूसरी घटना भाई कृष्णगोपाल गर्ग की है। सत्याग्रह का मैं प्रथम डिक्टेटर नियुक्त हुआ था। नवयुवक कृष्णगोपाल तेजस्वी व उग्र विचार का देशभक्त था। उस समय अजमेर के रेलवे-कारखाने में काम करता था। उसके मन में सत्याग्रह में शामिल होने की उथल-पुथल मच रही थी। उसने सबसे सलाह ली, गरमा-गरम विचार रखनेवालों ने भी, उसके घर की जिम्मेदारियों को देखकर, उसे मना किया कि तुम अपना काम करते हुए जो-कुछ सहायता कर सको वह करते रहो; पर सत्याग्रह में मत कूदो। उससे न रहा गया। मेरे पास आया। कहने लगा—'दा साहब, सबने—बाबाजी तक ने—मुझे मना किया है कि मैं सत्याग्रह में न पड़ूं।

पर मेरा दिल नहीं मानता। आपसे सलाह लेने आया हूं, जो आप कह देंगे वही करूंगा!'

मैंने कहा—'मुझसे सलाह मत लो। मैं इस समय डिक्टेटर हूं और इस युद्ध को चलाने की मेरी जिम्मेदारी है।'

'जो भी हो, मैं तो आपकी सलाह पर ही चलूंगा, चाहे जो हो जाय।'

उसकी लगन व दृढ़ता ने मुझे मोहित किया। पर उसकी कौटुम्बिक जिम्मेदारियों का भी मुझे खयाल था—भावी का भी विचार मन में आया, फिर सोचा, मेरा कर्त्तव्य तो इस समय अच्छे-अच्छे बलिदान प्राप्त करना है। उससे कहा—

'देखो, मैं डिक्टेटर हूं। इस समय आहुतियां तलाश करना व झोंकना मेरा काम है। तुम मुझसे सलाह मत लो। तुम दुख पाओगे।'

उसने अधिक जिद पकड़ी। 'बस आपकी राय की देर है, मैं उसीके अनुसार फैसला करूंगा।'

'तो मैं तो इसके सिवा दूसरी राय ही नहीं दे सकता कि कूद पड़ो इस अग्नि-कुण्ड में। आगे जो राम करे सो हो जायगा।'

और उसने वहीं से सीधा कारखाने में जाकर इस्तीफा पेश कर दिया। पीछे जब जेल में जेल-अधिकारियों से झगड़ा हो जाने के फल-स्वरूप हम बीस आदमियों को डण्डा-बेड़ी पड़ी व वह हमारे साथ कोठ-रियों में बन्द किया गया तब मुझे कृष्णगोपाल के कष्टों का बहुत विचार मन में आता रहा। जेल से निकलने पर उसके सामने जब-जब कोई कौटुम्बिक या सार्वजनिक समस्या आती है तो मुझे अपनी यह जिम्मे-दारी याद आ जाती है कि मेरे ही कहने से लगी-लगाई नौकरी पर लात मारकर उसने अपने भविष्य को खतरे में डाल दिया था और मैं भर-सक उन्हें सुलझाने का यत्न करता रहता हूं।

: ४० :

ईश्वरीय प्रकाश

मन में बहुत उथल-पुथल मचने, घनघोर मन्थन चलने, या चारों ओर कठिनाइयों से घिर जाने की अवस्था में मुझे कई बार ऐसा अनुभव हुआ है, मानो बुद्धि कुण्ठित हो गई है, मन निराशा में शिथिल होता जा रहा है कि एकाएक एक प्रकाश जैसा मस्तिष्क में पड़ा—एक नूतन विचार या स्फुरणा आई व उसमें मुझे रास्ता सूझ गया। कभी-कभी मेरे मुंह से बिना सोचे अचानक बातें निकल जाती हैं—उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो यह ईश्वर की किसी अज्ञात व्यवस्था या रचना के मातहत हुआ हो। आज तो मैं केवल श्रद्धावश इसकी कल्पना करके रह जाता हूं; परन्तु मेरा मन कहता है कि अहिंसा की चरमसीमा पर पहुंच जाने से यह रहस्य खुल जाना चाहिए। ईश्वर के संकेतों को, भावी को हम तक पहुंचने के लिए यदि कोई बाधा है तो हमारे मन के राग-द्वेष रूपी मलिनताओं की। अहिंसा के पालन से राग-द्वेष छूट जाता है। तब मनुष्य का हृत्तंत्र परमात्म-तन्त्र से सीधा जुड़ जाता है, जरा स्विच घुमाया और सूक्ष्म विद्युत्-तार एक-दूसरे से जुड़ गये। जो हो, यहां तो मैं ऐसी दो-एक घटनाएं लिखता हूं जो इस समय मुझे खासतौर पर याद आ रही हैं।

बिजौलिया का समझौता कराके मैं जेल चला गया था। जब यह खबर मिली कि ट्रेंच साहब आदि गलतफहमी में आकर मुझसे सब सम्बन्ध तोड़ चुके हैं व बापी की शेष रही ज़मीन किसानों को मिलने की

अब कोई आशा नहीं रही है तो जेल में मुझे बड़ी अशान्ति रहने लगी। पहले तो किसान सत्याग्रह की तैयारी कर रहे थे; समझौता हो जाने के कारण अबकी शिथिल हो गये होंगे, दुबारा सत्याग्रह के लिए उनके तैयार होने न होने का मैं जेल में निश्चय नहीं कर सकता था। लेकिन मैं अपनी यह जिम्मेदारी तो मानता ही था कि जो समझौता हुआ है, उसका पालन कराया जाय। इस प्रकार मन्थन मेरे मन में चल रहा था कि मुझे एकाएक सूझा—क्यों न मैं उपवास करके इस शर्त को राजवालों से मनवाऊं? जो पक्ष समझौता तोड़ता है, या किसी शर्त का पालन नहीं करता है, वह दोषी है और उसे समझौता मानने पर बाध्य करने के लिए सत्याग्रह अच्छा उपाय है। तो उपवास कितने दिन का करूं? यदि यह प्रायश्चित्त रूप हो तो दिनों की संख्या नियत की जा सकती है। पर यह तो सामने वाले से अपनी मांग पूरी कराने के लिए है, अतः इसमें मांग की पूर्ति तक की मियाद होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मांग पूरी न हुई तो प्राण की बाजी लगानी होगी। इस विचार से मुझे बहुत बल मिला। मेरी सारी चिन्ता काफूर हो गई। एक आखिरी तीर मेरे पास चलाने के लिए है—उसे चला दूंगा; पर इतने से भी काम न चला तो? उसकी जिम्मेदारी मुझ पर नहीं। जब तक मैं ज़िन्दा हूं, अपना सारा बल—अपना प्राण तक—लगा देना मेरा कर्त्तव्य या जिम्मा है, आगे काम भगवान् का। इस विचार से मुझे बहुत सन्तोष मिला।

जेल से छूटने पर मैंने इसका जिक्र श्रद्धेय जमनालालजी से किया। वे मेरे स्वभाव को जानते थे कि जो यह सोच लेगा वह कर गुजरेगा। वे बहुत समय तक गांधी-सेवा-संघ के अध्यक्ष रहे, व मैं एक सदस्य। दो-एक अवसर ऐसे आ चुके थे जब उन्होंने उलहना दिया कि यह काम गांधी-सेवा संघ के अनुशासन की दृष्टि से ठीक नहीं हुआ; इससे संघ की स्थिति विषम होती है, तो मैंने तुरन्त संघ से इस्तीफा दे देने को तैयारी कर ली। मेरे कारण किसी की और खासकर, 'गांधी सेवा संघ' जैसे की स्थिति विषम हो—यह मैं कभी बरदाश्त नहीं कर सकता। अतः मेरे छुई-मुई

स्वभाव के कारण वे चिन्ता में पड़ गये। मुझे समझाने की कोशिश भी की; पर मुझे अपने इस विचार में कोई दोष नहीं मालूम हुआ। तब उन्होंने एक दिन एकाएक पूज्य बापूजी के सामने मेरे इस निश्चय की चर्चा छेड़ दी व कहा—ये बहुत भावुक आदमी हैं। आपको इनका विचार कैसा लगता है? बापू ने कहा 'ऐसी भावुकता तो मुझे अच्छी लगती है। अपनी जिम्मेदारी का ऐसा ही खयाल मनुष्य को रहना चाहिए। परन्तु मुझे लगता है कि इस विषय में अभी अनशन करने का अधिकार हरिभाऊ को नहीं प्राप्त हुआ है।' इस पर मैंने पूछा—'सो कैसे?' उन्होंने समझाया कि एक बार फिर किसानों का संगठन करके उनमें अपनी मांग की पूर्त्ति कराने का बल पैदा करना तुम्हारा कर्तव्य है। इसे किये बगैर प्राणों की बाजी लगाना जल्दबाजी है और जहां जल्दबाजी है वहां सत्याग्रह में कमी आ जाती है।

× × ×

स्वास्थ्य मेरा बचपन से ही खराब है। ज्योतिषी भी मेरी कुण्डली देखते हैं तो वे जन्म-भर के लिए मुझे निश्चिन्त कर देते हैं कि स्वास्थ्य का यही हाल रहेगा। सो मेरी हालत इस विषय में मीराबाई की तरह हो गई है—'भवसागर सब सूख गया है, फिकर नहीं मुझे तरनन की।' परन्तु एक ख़याल रह-रह करके आ जाता था। जब कभी मैं ज्यादा बीमार हो जाता तो मेरे बूढ़े पिता, पत्नी, भाई आदि को कितना दुःख होगा, वे कैसे असहाय हो जायंगे, यदि मैं इस बीमारी में मर गया। एक बार जेल में मैं बीमार हुआ, व ऐसी ही चिन्ता मन में आने लगी तो एकाएक किसी ने यह प्रश्न मेरे दिमाग में किया—क्या तुम इन सबके ईश्वर हो? क्या तुम्हारा व सबका कोई एक ईश्वर नहीं है, जो तुमसे जुदा व सबसे बड़ा है? फौरन मैं अपनी भूल समझ गया। तब तो बड़ा साहस अजीब बे-फिक्री लगने लगी। ठीक तो है; यह सब भार तो परमेश्वर पर है; मैं गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते की तरह व्यर्थ ही यह समझ रहा हूं कि यह गिरस्ती की गाड़ी मेरी बदौलत चल रही है। इसके बाद मुझे ऐसा अनुभव होने लगा मानो मेरी उम्र बढ़ गई हो।

: ४१ :

क्षमा मंगवाना अहिंसा नहीं

यदि मैंने जान में या अनजान में आपको नुकसान पहुंचाया है, आपका कोई अपराध किया है व मैंने उसे महसूस कर लिया है तो मेरे लिए सर्वथा उचित है कि मैं आपसे उसके लिए माफी मांगूं। यह महसूस करना कि सचमुच हमने इनका नुकसान कर डाला है, अनुताप या पश्चात्ताप कहलाता है। इस पश्चात्ताप को प्रदर्शित करने के लिए जो काम—बाह्याचार किया जाता है वह प्रायश्चित्त और सामने वाले पर जब अपना पश्चात्ताप प्रकट किया जाता है तो वह क्षमा-याचना कहलाती है। पर जब आप मुझसे यह तकाजा करते हैं कि तुम फलां बात के लिए मुझसे माफी मांगो तो मैं आपको अपने सामने झुकाना चाहता हूं—आप अपने मन में यदि इसका एहसास कर लेते हैं तो इतने से मुझे सन्तोष नहीं है। यह दूसरे को झुकाने की भावना अहिंसा में नहीं आती, ऐसा मुझे लगता है। दूसरे शब्दों में विजय की भावना का अहिंसा से सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा में दोनों पक्ष की विजय होती है। मेरी विजय तो यह है कि मैंने अपनी भूल समझ ली, आपकी विजय यह कि आपकी क्षमा-शीलता मुझे अपनी भूल दिखलाने में कामयाब हुई।

ऐसे विचार रखने के कारण जब कोई मुझसे क्षमा-याचना करने आता है तो मुझे शर्म-सी मालूम होती है। सामने वाले की वह दीनता या नम्रता मेरे लिए बहुत भारी हो जाती है। क्या मैं कोई ऐसा बड़ा आदमी हूं जो इस नम्रता को देखता रहूं, और इस पर मन-ही-मन पुल-

कित होऊं ? और क्या सचमुच इस दृश्य में कोई बड़प्पन भी है कि एक आदमी झुककर आपके पैरों में पड़ता है, और आप उसमें कुछ आनन्द या संतोष या अपने लिए गौरव अनुभव करते हैं ! अतः जब कभी ऐसे अवसर आये हैं, मैंने सदा क्षमा-याचना करने वालों से कहा कि 'भाई, मुझे तुम्हारी क्षमा-याचना की जरूरत नहीं है। मैं नहीं मानता कि तुमने मेरा कोई नुकसान किया है। यदि तुमने मेरी कोई बुराई की है तो तुमने अपना ही नुकसान किया है। यदि मेरा कोई नुकसान हुआ है तो उसकी जिम्मेदारी मेरे पर ही है। मेरे ही किसी दोष का यह फल मुझे मिला है। सो तुम किस बात के लिए मुझसे माफी मांगते हो ? तुमने गलती की थी, तुम उसे सुधार लो। आयंदा ऐसी बुराई मत किया करो। इससे तुम्हीं को फायदा पहुंचेगा।'

मगर इससे भिन्न एक दूसरी श्रेणी के लोग होते हैं, जिन्हें तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक कि सामने वाला उनसे माफी न मांग ले। वे तभी अपने स्वाभिमान को सुरक्षित पा सकते हैं। मेरा खयाल है कि ऐसी मांग जहां तक खुद से संबंध है, अहंकार का व सामने वाले के प्रति संबंध है, हिंसा का ही एक स्वरूप है। इस वृत्ति में अपने प्रति दृष्टि व सामने वाले के प्रति दृष्टि ज्यादा कठोर है।

इसी तरह जब कभी हम दूसरों से मिलते हैं तो सदा अपनी ही बड़ाई करना अपने ही बारे में अधिक बातचीत करना, अपने व अपनों के कामों को अधिक महत्त्व देना, दूसरों व दूसरों के कामों के प्रति तुच्छता का भाव रखना, अपना काम दूसरों से करवा लेना, दूसरों के काम के समय टाला दे जाना, ये सब वृत्तियां मुझे हिंसा का ही स्वरूप मालूम होती हैं। हमारी जिन-जिन वृत्तियों में, दूसरों के भावों की, विचारों की, महत्त्व की, सम्मान की, हानि की, उन्नति की उपेक्षा व तुच्छता पाई जाय वे सब हिंसा के ही अन्तर्गत हैं। ज्यों-ज्यों मुझे इस रूप में हिंसा के दर्शन होते जाते हैं त्यों-त्यों मैं उससे बचने का यत्न करता हूं, जिसका नतीजा फिलहाल तो यह हो रहा है कि कई बार असमंजस में पड़ जाता हूं

कि अपने बारे में इनसे क्या बात करूं ? सामने वाले के सुख-दुःख की ही वात करने में ज्यादा दिलचस्पी मालूम होती है। अपनी बात निकाली भी तो वहुत छोटेपन का अनुभव मन में होने लगता है। साथ ही तुलसी-दास की यह पंक्ति याद आने लगती है—"जासों दीनता कहौं हौं देखों दीन सोऊ; दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ।" ईश्वर पर श्रद्धा बढ़ती है, व इसके साथ ही निश्चिन्तता भी। पहले जहां दौड़-दौड़ कर जाने को मन होता था, अब किसी के दुःख या संकट के अवसर पर ही जाने में रुचि रह गई है, जहां अपनी बड़ाई होती हो, मान मिलता हो वहां अटपटा लगता है, जहां अपनी टीका, निन्दा, आलोचना होती हो तो सुनने को जी चाहता है। ऐसा लगता है कि बड़ाई सुनने से कहीं गड्ढे में न गिर जाऊं, व निंदा सुनने से जागरूकता बढ़ेगी जो अपने काम आवेगी। इस वृत्ति में मुझे अपना अहिंसा की तरफ प्रयाण साफ दीखता है। पर मैं अनुभव करता हूं कि जब तक अपने विरोधी के प्रति अपने को हानि पहुंचाने वाले के प्रति सगे भाई की तरह सक्रिय-प्रेम मन में न उत्पन्न हो तब तक अहिंसा की साधना अधूरी ही है। चौबीस घण्टे जब तक ऐसी भावना न रहे तब तक अहिंसा कच्ची है। यह तभी सम्भव है जब हम मनुष्य-मात्र को नारायण का रूप मानने ही नहीं, समझने भी लगें। इस तरह अहिंसा हमें 'नर-नारायण' बनाने की तरफ ले जाती है, यह विश्वास व अनुभव के साथ कहा जा सकता है। हाल ही मैंने अपने एक मित्र को लिखा कि 'जो मुझे अपना विरोधी समझते हैं उनमें भी मैं तो अपनी ही आत्मा के दर्शन करना चाहता हूं।' कोई अपना विरोधी तभी तक है जब तक हम अपने 'स्व' को ही देखते हैं। जब हम 'स्व' व 'पर' दोनों में एक ही आत्मा को देखने लगते हैं तो फिर कौन किसका विरोधी रहा ? यदि मैं अपना विरोधी हो सकता हूं तो सामने वाला भी मेरा विरोधी है। नरसिंह मेहता ने कहा है—'ज्यां लगी आतमा तत्व चीन्यो नहीं त्यां लगी साधना सर्व जूठी।'

: ४२ :

अहिंसा की सूक्ष्मता

जब हमारे पास कोई सलाह लेने आता है तब हम कई भावों से प्रभावित होकर उसे सलाह देते हैं। एक भाव तो यह होता है कि इसे ऐसी सलाह दी जाय जिससे उलटा अपना काम बन जाय। दूसरा भाव यह कि सलाह ऐसी हो जिससे इसका भी काम बने व अपना भी मतलब बन जाय। तीसरा भाव यह कि जिससे अपना मतलब बने या न बने, भले हानि भी हो, पर सलाह सच्ची ही देनी चाहिए, ऐसी कि जिससे इसका ही हित हो व किसी दूसरे के साथ अन्याय न हो। ये क्रमशः उत्तरोत्तर ऊंची भावनाएं या अवस्थाएं हैं। दूसरी भावना से अहिंसा की शुरूआत होती है व तीसरी में उसका उन्नत स्वरूप प्रकट होता है। अहिंसा और आगे चली तो व्यक्ति दोनों—सलाह मांगनेवाले व देनेवाले—का भय भूलने लगता है। वह समझने लगता है कि जिसे मुझे सलाह देना है वह मैं ही तो हूं—मेरे व इसके हित में ही नहीं, आत्मा में भी कोई अन्तर नहीं है। यह आत्ममयी-दृष्टि अहिंसा की पराकाष्ठा है। यहां अहिंसा जाकर सत्य में मिल जाती है।

अपनी अहिंसा-भावना की जिसमें परीक्षा हुई है ऐसी घटनाएं यहां दे रहा हूं जिससे संभव है, पाठकों को अहिंसा-पालन की दिशा में कुछ सहायता मिल सके।

मेरे एक प्रिय साथी मुझसे नाराज होकर अलग हो गये। दूसरी

संस्था में काम करने लगे। उनका एक अत्यन्त निकटस्थ व्यक्ति था—उन्हें पिता की तरह क्या, पिता ही मानता था। बावजूद मुझसे उनकी नाराजगी, के वह मुझ पर भी विश्वास रखता था। एक रोज जल्दी में मुझसे रास्ते में मिला। अपने इन पिता की बहुत सी शिकायतें मुझसे कीं व मेरी सलाह मांगी। मुझे उसका मेरे पास आकर सलाह मांगना उचित नहीं जंचा। एक तो पिता इस बात से अप्रसन्न होंगे, जो मुझे अभीष्ट नहीं। दूसरे, इनके सम्बन्ध आपस में बिगड़ जायंगे, जो मुझे मंजूर नहीं। फिर मेरे प्रति अकारण ही उनके मन में सन्देह हो जायगा, जो किसी के भी लिए हितकर नहीं। मैंने पूछा—

'तो तुमने अपने पिताजी से इन सब विषयों में बातचीत कर ली है?'

'नहीं तो,—मैं तो आपसे सलाह लेने आया हूं कि क्या करूं?'

'लेकिन पहले तो तुम्हें अपने पिताजी से ही इस विषय में बातचीत करनी चाहिए। जिनसे उन बातों का संबंध है उनसे बातचीत न करके किसी दूसरे तक उन बातों को ले जाना अनुचित है। पुत्र-धर्म के तो प्रतिकूल है ही, परन्तु ऐसा करने से उनके साथ न्याय भी नहीं होता। सम्भव है, बहुत-सी बातें गलतफहमी से ही पैदा हुई हों, उनकी बातचीत से तुम्हारा सन्तोष हो जाय, तो फिर क्यों आपस की या घर की बातचीत किसी तीसरे से कही जाय। अतः मेरी तो यही सलाह है कि तुम पहले अपने पिताजी से ही बातचीत करो। बल्कि शुरू में ही उनसे इस बात के लिए माफी मांगो कि तुमने पहले उनसे बातचीत न करके मुझसे की। भले ही उनसे कह दो कि मैं हरिभाऊजी के पास गया था व उन्होंने मुझे आपसे ही बातचीत करने को व पहले क्षमा मांगने की सलाह दी है।'

लड़का बुद्धिमान् था, उसने इस सलाह के महत्त्व को समझ लिया।

× × ×

एक बार एक सज्जन के बारे में कुछ शिकायतें मेरे पास आईं व

मुझे ऐसा लगा कि ये सच होनी चाहिएं। एक दूसरे मित्र ने आकर मुझे विश्वास दिलाया कि शिकायतें गलत हैं। मैंने इन्हें अधिक विश्वसनीय समझकर इनकी बात मान ली व उन सज्जन को लिखा कि बिना आपका पक्ष जाने ही जो मैंने आपको कुछ समय तक भी मन में दोषी मान लिया, इस अपराध के लिए आपसे क्षमा चाहता हूं। हालांकि बाद में वे शिकायतें सच ही निकलीं।

एक दफा विरोधी पक्ष के मित्रों से समझौता हुआ। तब मैं उनके दृष्टि-बिन्दु को उतना ही महत्त्व देने लगा जितना कि अपने दृष्टि-बिन्दु को। उनकी गैर हाजिरी में भी कोई प्रश्न उपस्थित होता तो मैं सोचता कि उनके हित की दृष्टि से इसमें क्या करना मुनासिब है। मैं मानता कि उनके हित मेरे हाथों में सुरक्षित रहने चाहिएं। इस पर मेरे एक साथी को आश्चर्य व झुंझलाहट भी हुई। मैंने उन्हें समझाया कि जब हम किसी को अपना मित्र, साथी या भाई मानते हैं तो हमारे हाथ में उसके हित सुरक्षित ही रहने व समझे जाने चाहिएं। भले ही पहले ये विरोधी रहे हों, पर अब, जब कि एक समझौता हुआ है तो मुझे इनके प्रश्नों को उसी भावना से हल करना चाहिए जिस भावना से अपने भाई के प्रश्नों को हल करता हूं। इसमें मुझे यह देखने की जरूरत नहीं है कि खुद उनका व्यवहार मेरे प्रति कैसा है। ऐसा देखना तो सौदा कहलाएगा। सौदे से हृदय जुड़ते नहीं। वे प्रेम व विश्वास से ही जुड़ते हैं। प्रेम व विश्वास का अर्थात् अहिंसा का मार्ग जोखिम से तो खाली जरूर नहीं है। परन्तु यदि हमें उनके हित के सिवा दूसरी बात मंजूर नहीं है तो फिर जोखिम भी क्या रही? जब हम केवल सार्वजनिक या सामने वाले के हित का ही ध्यान रखते हैं तो फिर जोखिम का भय या चिन्ता हमारे लिए निरर्थक है।

× × ×

एक महाशय ने, जो मुझे अपना विरोधी समझते थे, एक बार मेरे खिलाफ एक वाहियात पर्चा टाईप कराके इधर-उधर इस तरकीब से

भिजवाया कि सन्देह किसी दूसरे पर ही हो। जिसने टाईप किया था वह उनका निकटवर्ती था। कुछ समय के बाद दोनों में कुछ अनबन हुई व वह टाईप करने वाला उन्हें बहुत ही कड़ा पत्र लिखकर मेरे पास आया व अपना दोष स्वीकार करके माफी मांगने लगा। कहा—'आप जैसे के खिलाफ मुझे इस षड्यन्त्र में शरीक नहीं होना चाहिए था। मैंने उनसे कहा भी कि मैं इसे टाईप नहीं करूंगा; परन्तु मेरे जैसे सम्बन्ध उनसे थे, उसमें मजबूर हो गया, आदि व उन महाशय से अनबन होने व चिट्ठी लिखने का हाल कहा—बल्कि चिट्ठी का कुछ अंश सुनाया भी। मुझे इस सारे काण्ड पर आश्चर्य तो हुआ; परन्तु फिर भी ऐसी कड़ी चिट्ठी का लिखा जाना मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने उससे कहा—'यह तो मनुष्य की अपनी कमजोरी है कि वह अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी गंदे काम में शरीक हो। मुझसे माफी मांगने की जरूरत यों नहीं कि मैं समझता हूं कि इस झुठाई में शरीक होकर तुमने अपनी ही हानि की थी। अब उसका पश्चात्ताप करके तुम अपना ही हित-साधन कर रहे हो। मेरा बिगाड़ तो तुम या कोई दूसरा कर नहीं सकता। वह तो मेरी ही अपनी करतूतों से हो सकता है। अतः मुझसे माफी मांगना बेकार है। परन्तु तुम्हारी यह चिट्ठी व उसकी टोन मुझे जंची नहीं। जिसको तुम अपना बड़ा मानते हो उसके प्रति ऐसी अशिष्ट चिट्ठी लिखना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। यदि वह चिट्ठी न भेजी हो तो मेरी सलाह है कि इसे रोक लो व अपनी शिकायतें व दुःख बहुत नम्रतापूर्वक उनके सामने पेश करो। इस चिट्ठी से उन्हें बहुत आघात पहुंचेगा, और इससे लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी। मुझे, जहां तक याद है, वह चिट्ठी भेज चुका था, व मेरी सलाह के बावजूद उसे उस कड़ी चिट्ठी पर पछतावा नहीं हो रहा था।

× × ×

जब मैं प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का प्रधान मंत्री था, तब नगर या जिला कमेटी के मंत्री मुझसे नाराज होकर महा समिति के दफ्तर में

शिकायतें भेजा करते थे। वे लौटकर मेरे पास जवाब के लिए आतीं। एक बार वे सज्जन मिल गये तो मैंने उन्हें बताया व समझाया कि भाई शिकायतें ऊपर लिखो व करो तो जरा ऐसे ढंग से तो करो व लिखो कि ऊपर वालों पर कुछ असर हो। तुम ऐसे वाही-तवाही ढंग से लिखते हो कि मेरा ही पक्ष प्रबल हो जाता है व उनकी राय तुम्हारी तरफ से बिगड़ जाती है। किसी काबिल आदमी से मसविदा बनवा लिया करो, या मुझसे कहो तो मैं बना दिया करूं। उन्हें मेरे इस रवैये पर बड़ा ताज्जुब हुआ—संभव है, उन्होंने इसे मेरा बनावटी व्यवहार ही माना हो, पर मैंने उन्हें शुद्ध भाव से उनके हित में यह सलाह दी थी।

मुझे शुरू में मेरे चाचाजी ने व बाद में जमनालालजी ने यह शिक्षा दी कि मनुष्य के गुणों की ही चर्चा अधिक करनी चाहिए। आवश्यकता व प्रसंग पड़ने पर ही अवगुणों का उल्लेख करना चाहिए। जो अपने विरोधी हों उनके प्रति तो इस नियम के पालन में और भी सावधानी रखनी चाहिए। क्योंकि एक तो स्वभावतः ही अपने मन में विरोधी के प्रति सद्भावना कम रहती है, अतः उसके अवगुणों, दोषों व अपकर्मों के प्रति तीव्र दृष्टि रहती है और उनकी चर्चा में हम उदार भी रहते हैं, दूसरे इस स्थिति से बेजा फायदा उठाकर अपना उल्लू सीधा करनेवाले इनका बढ़ा-चढ़ाकर प्रचार करके हमारी खाई को और चौड़ा कर देते हैं। अतः अपने मित्र के बारे में एक बार अवगुण-चर्चा हमसे हो जाय तो वह इतना बुरा असर नहीं पैदा करती जितनी विरोधी की चर्चा। मैं भरसक इस नियम का ध्यान रखता हूं व जब कभी कोई मेरे सामने किसी की निन्दा या आलोचना करते हैं तो मैं उनके गुण—उनका शुक्ल पक्ष—उनके सामने उपस्थित करता हूं। इससे एक तो आलोचक के मन की कटुता कम हो सकती है व दूसरे मेरे प्रति गलत-फहमी फैलाने का अन्देशा नहीं रहता। इसका मुझे कई बार प्रत्यक्ष प्रमाण मिला है। ऐसे सज्जन मिले हैं जिन्होंने मुझसे खुद आकर कहा है 'कि हम तो आपकी बुराई करते फिरते थे; पर कई जगह हमें लोगों ने कहा कि

उपाध्यायजी तो, जब कभी अवसर आता है, आपके गुणों की ही बड़ाई करते पाये गये।' इससे मेरे प्रति उनकी भावनाएं भी बदलीं। जो तीव्रता या कटुता उनके मन में पहले थी वह अब नहीं पाई जाती। फिर भी एक बाह्य नियम के रूप में इसका पालन करने की अपेक्षा जब अहिंसा के फलित नियम के तौर पर इसको साधना की जाय तो उसके सुफल व आनन्द का ठिकाना नहीं रह सकता। वास्तव में जिसे हम अपना विरोधी, निन्दक, आलोचक समझते हैं वह हमारे ही दुर्गुणों, दोषों, त्रुटियों, कमजोरियों की प्रति-मूर्ति या प्रतिबिंब जैसे होते हैं, अतः हमसे पृथक् उनका विचार करना ही गलत है। वे हमारे ही अंग हैं। जिस दिन हम यह समझ लेंगे उस दिन अहिंसा की सबसे ऊंची मंजिल पर अपने को पावेंगे।

जेल में एक व्यक्ति ने मेरे प्रति बहुत अशिष्ट, अपमानजनक व अश्लील व्यवहार किया—मेरी अनुपस्थिति में। जिन-जिनको भी मालूम हुआ उन्होंने उसे बहुत धिक्कारा। वह कुछ स्वभाव व वृत्ति से ही ऐसा आदमी था। ऐसा अवसर आया कि उसकी कुछ हरकतों से बिगड़कर दूसरे लोगों ने उसकी पूजा कर डाली! जब मुझे मालूम हुआ तो मैंने उसके जिम्मेदार मित्रों को शर्मिन्दा किया। एक और अवसर पर जब कोई चौकेवाले उसे अपने चौके में भोजन कराने के लिए राजी नहीं होते थे, ऐसी हालत हो गई थी कि अब उसका कोई नहीं रहा—तब मैंने कहा—अच्छा हम दोनों का एक अलग चौका रहेगा, हम अलग बैरक में भी रह जायंगे, अगर जेल वाले ऐसी व्यवस्था कर दें। जिसका कोई नहीं है उसका साथी मैं हूं। मुझे याद पड़ता है, भाई शोभालालजी भी उसके साथ अकेले रहने के लिए तैयार हुए थे।

अहिंसा की परीक्षा हमारे अपने लोगों के बीच उतनी अच्छी तरह नहीं होती जितनी गैरों या विरोधियों के बीच। शायद अहिंसा अपनों के लिए है भी नहीं। जहां अपनापन है वहां द्वैत नहीं, व जहां द्वैत नहीं, वहां अहिंसा का क्या काम?

: ४३ :

नकद धर्म

इस अध्याय में जिस घटना का वर्णन किया जायगा उससे मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होगया कि अहिंसा सचमुच 'नकद धर्म' है। 'इस हाथ दे, उस हाथ ले'। इन्दौर में शायद १६३१-३२ में नन्दलाल भंडारी मिल्स व स्टेट मिल्स में मजदूरों ने हड़ताल कर दी। इन दोनों के संचालक उस समय कन्हैयालाल भण्डारी थे। ये उद्योग-व्यवसाय व प्रबन्ध में बड़े दक्ष माने जाते हैं। १६२६ में जब मजदूरों की आम हड़ताल हुई थी तब भी इन्होंने बड़ी तरकीब से अपनी मिलें चालू करा ली थीं। इनका विश्वास था कि मेरी मिलों में कभी हड़ताल नहीं हो सकती। इन्दौर के मजदूर संघ वाले भी इनकी मिल में प्रवेश करना बहुत कठिन बात मानते थे। पर एक बार मजदूरों ने दोनों मिलों में हड़ताल कर ही डाली। लाला गुलजारीलाल अहमदाबाद से वहां मजदूरों की सहायता के लिए गये। उनका खयाल था कि ८-१० दिन में हड़ताल का कुछ निपटारा करा लेंगे। परन्तु वह इनकी आशा अपेक्षा से कहीं ज्यादा ठहर गई। कन्हैयालालजी उन्हें आसानी से दाद देने वाले आदमी नहीं थे। उन्होंने तथा श्री शंकरलालजी बैंकर ने भी मुझे पत्र लिखे कि इसे जल्दी निपटाना चाहिए। लालाजी के इन्दौर में अचानक रुक जाने से अहमदाबाद के काम में बहुत हर्ज हो रहा था। मैं उन दिनों बीमार था— परिस्थिति की जटिलता व कठिनाइयों को खूब समझता था, तो भी भगवान् का नाम लेकर मैंने श्री कन्हैयालालजी को एक पत्र लिखा। मैंने

सोचा कि यदि उनका हार्दिक सहयोग न मिले तो निपटारा होगा कैसे ? अतएव पहले पत्र से उनका रुख जान लेना ठीक रहेगा। मैंने उन्हें लिखा कि मुझे बड़ा आश्चर्य है कि आपकी मिल में हड़ताल कैसे होगई ? मैं चिन्तित हूं कि मेरा बस चले तो एक दिन भी हड़ताल न बढ़ने दूं। पर मैं अस्वस्थ हूं, और दूर बैठे हुए यह समझ नहीं सकता कि मेरे वहां आने से इसे सुलटाने में कुछ सहूलियत पैदा हो सकती है। यदि आपको ऐसा जंचे कि मेरा आना उपयोगी होगा तो मुझे निःसंकोच तार दे दीजिए। मैं ऐसी हालत में भी तुरन्त चला आऊंगा व शक्ति-भर ऐसा यत्न करूंगा जिससे शान्ति व सद्भावना के साथ हड़ताल निपट जाय।

संयोग से इन्दौर के श्री लक्ष्मीदत्तजी मिलने आगये। मैंने उन्हें सारी परिस्थिति समझाकर कहा कि आप खुद कन्हैयालालजी से मिल लीजिए। उनका रुख अनुकूल होगा तो ही हड़ताल के जल्दी समाप्त होने की आशा रखी जा सकती है। दूसरे ही दिन भण्डारीजी का तार आगया व मैं इन्दौर रवाना होगया। जब स्टेशन पर मैंने एक तरफ श्री भण्डारीजी को दूसरी तरफ लाला गुलजारीलालजी को व तीसरी तरफ अपने मित्र बालू भैया दाते को, जिनके यहां कि मैं अक्सर ठहरा करता था, व जो मजदूरों के प्रति बहुत हमदर्दी रखते थे, देखा, तो क्षण-भर के लिए सोच में पड़ गया कि कहां ठहरूं ? इतने ही में कन्हैया-लालजी ने मोटर का द्वार खोला व कहा, आइये,'भाऊ साहब !' अब तो उनके ही साथ जाना व उन्हींके यहां ठहरना उचित था। उनके तार से ही मैं रवाना हुआ था। लेकिन उधर मजदूरों में यह गलतफहमी फैलने का अंदेशा था कि ये तो सेठ के यहां ठहर गये, हमारा क्या भला करेंगे ? वैसे तो मैं मजदूर-संघ का उप-सभापति भी था। मैंने लालाजी की ओर देखा—मुझे ऐसा लगा कि उन्होंने भण्डारीजी के यहां ठहरने का समर्थन ही किया। फिर मैंने यह भी सोचा कि भण्डारीजी के नज-दीक रहने से ही, संभव है, मजदूरों का अधिक हित साधा जा सके।

मैं शुद्ध न्याय के लिए प्रयत्न करने आया था। समझौता उसी का नाम है जिसमें दोनों पक्ष वालों के प्रति न्याय-दृष्टि रखी जाय, दोनों के स्वाभिमान की रक्षा का खयाल हो। भण्डारीजी मुझे जानते थे कि मैं एक शान्त व न्याय-प्रिय व्यक्ति हूं। अतः मैंने उन्हीं के साथ जाने का निश्चय किया। परिणाम से मैंने देखा कि बालू भैया जैसे तीसरी जगह ठहरकर भी वह काम नहीं हो सकता था जो कन्हैयालालजी के साथ ठहरने से हुआ। उन्होंने व मैंने—दोनों ने इस समय अहिंसा के गुण व शक्ति को अनुभव किया। वे तो धर्मतः भी अहिंसावादी—जैनी—हैं।

दो-तीन दिन तक भण्डारीजी मजदूर-संघ के कार्यकर्त्ताओं की शिकायत व संघ की प्रवृत्तियों की कटु आलोचना करते रहे, जिसे मैंने धैर्य के साथ सुना। इसलिए भी कि जब तक उनके दिल का सब गुब्बार निकल न जाय तब तक वे शान्ति के साथ किसी समझौते की बात पर विचार करने की स्थिति में न होंगे। उससे मुझे पता लगा कि इस हड़ताल से इनके दिल में गहरा घाव हो गया है। धैर्य से उनकी बात न सुनूंगा तो इस घाव की मरहम-पट्टी न होगी—मनुष्यता, न्याय व मजदूर-हित तीनों दृष्टियों से मुझे यह आवश्यक मालूम हुआ।

मेरे पहुंचने के कुछ घण्टों के बाद ही लालाजी का एक खत मुझे मिला जिसमें उन्होंने मजदूरों का पक्ष सुनने के लिए मुझसे मिलना चाहा था। इससे पहले ही मैं कन्हैयालालजी की बातों से यह समझ गया था कि संघ वालों के प्रति उनके भाव कैसे हैं; हालांकि गुलजारीलालजी के प्रति उनके मन में जरूर आदर था, व वे उसे व्यक्त भी करते थे। फिर भी मैंने कन्हैयालालजी को विश्वास में लेकर इसका निश्चय करना ठीक समझा। वह पत्र मैंने उनके हाथ में रख दिया। उन्होंने कहा—'हां, जरूर मिलना चाहिए; पर उनसे मजदूर संघ में जाकर मिलिए, यहां मत बुलाइए—नहीं तो गलत-फहमी फैल जायगी।' मैं भी संघ के कार्यालय में ही मिलना पसन्द करता था। अतः मैं वहीं जाकर लालाजी से मिला।

कन्हैयालालजी की बातों से ऐसा लगता था कि अभी महीना-भर

मिलें न चलें तो उन्हें कोई चिंता नहीं। इधर मजदूर-संघ ढीला पड़ने के लिए तैयार न दिखाई दिया। तब मैंने शायद तीसरे दिन कन्हैया-लालजी से कहा—'ऐसा मालूम होता है, मैं यहां जल्दी आगया, और आपने भी मुझे बुलाने में कुछ जल्दी ही की। मेरा स्वास्थ्य भी खराब है, अब मुझे कल अजमेर बिदा कर दीजिए।'

वे चौंककर बोले—'क्यों, ऐसी क्या बात हुई?'

'मैं तो यह सोचकर अजमेर से चला था कि दूसरे ही दिन समझौता कराके हड़ताल समाप्त करा सकूंगा। क्योंकि शंकरलाल भाई व लालाजी के पत्र मेरे पास आते ही रहते थे, अब आपका तार मिल जाने से मैंने समझा कि जाते ही दोनों पक्ष वाले किसी समझौते पर रजामंद हो जायंगे। परन्तु आज तीन दिन हो गये, हड़ताल बराबर चल रही है, और समझौते की बात शुरू करने का अवसर ही नहीं आया। मैं तो अपने लिए यह बड़ा पाप समझता हूं कि मैं एक-एक दिन यहां इस तरह बिताता रहूं, व हड़ताल चलती रहे—इधर गरीब मजदूरों की मजदूरी का नुकसान हो, उधर मिल के शेयर होल्डरों की भी हानि हो। दोनों पक्षों की लाखों नहीं तो हजारों की हानि की जिम्मेदारी मैं इस तरह अपने पर नहीं ले सकता। मुझे तो आपकी बातों से ऐसा लगता है कि आप अभी एक मास और मिल चालू करना नहीं चाहते। उधर संघ वाले भी कहते हैं कि सेठ एक मास डटेंगे तो हम भी एक मास तो डट ही सकते हैं। अतः मेरी राय में समझौते का वक्त अभी नहीं आया है। समझौता तभी हो सकता है जब दोनों पक्ष सचमुच उसकी आवश्यकता महसूस करें। तो मुझे इजाजत दीजिए।'

इसका अनुकूल असर कन्हैयालालजी पर हुआ। उन्होंने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, जब आपको तार देकर बुलाया है, तो मैं आपको खाली वापस नहीं लौटा सकता। तो कहिए, मजदूर क्या चाहते हैं?'

मैं—'पहले आप बताइए कि आपकी तरफ से सवाल बात का है या पैसे का ?'

'पैसा तो परमात्मा ने अपने को काफी दिया है। मैं यह महसूस करता हूं कि मजदूरों को यह हड़ताल नहीं करनी चाहिए थी। उन्होंने जाब्ते से नोटिस तक नहीं दिया। इसका मुझे सबसे ज्यादा रंज है।

'तो प्रश्न बात का ही रहा न ! अच्छा समझौते में मूंछ आपकी ऊंची रहेगी, मालिकों का सम्मान मेरे हाथ में सुरक्षित है। अब ?'

'तो मेरी तरफ से, आपके हाथ में कलम देता हूं, आप मजदूरों की तरफ से जो ठीक समझें लिख दीजिए, मैं दस्तखत कर दूंगा।'

मुझे सेठजी के इस जवाब से बहुत सन्तोष हुआ। मैंने कहा—'तो इसके लिए अब लालाजी से मिलना होगा।' उन्होंने कहा—'हां, जरूर मिलिए।'

लालाजी से मैंने कहा—'समझौता मजदूरों के बिलकुल हक में हो सकता है, लेकिन मजदूरों की ओर से एक गलती हमें मंजूर करनी होगी। मजदूरों ने बिना नोटिस दिये जो हड़ताल कर दी, यह गलती तो उनको माननी ही होगी न !'

'हां यह तो अपने यूनियन की दृष्टि से भी गलती ही है।'

'तो फिर समझौते की पहली शर्त यह होगी कि मजदूर अपनी इस गलती पर खेद प्रकाशित करते हैं।'

'हां, यह तो अपने संघ के डिसिप्लिन के लिहाज से भी ठीक है।'

तो मैंने कहा—'अब मजदूरों की तरफ से आप लिख दीजिए क्या चाहते हैं ?'

शायद उसी दिन समझौता हो गया। मजदूरों के खेद-प्रकाशन की पहली शर्त से सेठजी की मूंछ ऊंची रह गई, इधर मजदूरों की लगभग सभी मांगें सेठजी ने मंजूर कर लीं। लेकिन एक शर्त पर मामला फिर विकट हो गया। मजदूरों की तरफ से चाहा गया कि हड़ताल के कारण किसी मजदूर को सताया न जाय व सभी हड़ताली काम पर लिये जायं।

सेठजी को सिद्धान्ततः इसे स्वीकार करने में दिक्कत न थी; पर कठिनाई यह थी कि वे ७०-७५ मजदूरों को गुण्डा समझते थे, उनसे उन्हें मिल को नुकसान पहुंचने का अन्देशा था। उनका कहना था कि इन्होंने पहले भी नुकसान पहुंचाया है, अतः वे उन्हें वापिस नहीं लेना चाहते। यदि ऐसा अपवाद करते हैं तो मजदूरों के दृष्टि-बिन्दु से वह एक नीति को छोड़ने जैसा होता था। तब रास्ता निकाला गया कि सभी मजदूर, जिनमें ये ७०-७५ लोग भी होंगे, कारखाने में जाकर अपने-अपने सांचे पर काम करने लगें व जिन मजदूरों के बारे में मालिकों को शिकायत हो उनकी जांच मालिक लोग करें व उसके फल-स्वरूप जो कुछ कार्रवाई उचित दीखे, वह की जाय। कन्हैयालालजी ने सुझाया कि इनका मुकदमा हरिभाऊजी करें। यह बड़ा धर्म-संकट था, लेकिन मामले को सुलझाने के लिए मैंने यह जिम्मेदारी कुबूल कर ली। मिल चालू हो गई। अब इनके मुकदमे का समय आया।

मेरे दिल में बड़ी उथल-पुथल मची। यदि ये ७५ आदमी निर्दोष पाये गए तो मुझे छोड़ देने पड़ेंगे। पर उस दशा में सेठजी निश्चिन्त नहीं रह सकेंगे। उन्हें निश्चिन्त करने के लिए क्या मैं अन्याय करूं? मैंने कन्हैयालालजी से कहा—'देखिए, मैंने यहां आकर मालिक व मजदूर दोनों का हित ही साधा है।'

'बेशक, आपने इस समय दोनों की बहुत सेवा की है।'

'और यह मैंने अपना कर्त्तव्य समझकर किया है, किसी लोभ-लालच से नहीं, मुझे इसका पुरस्कार कहीं से नहीं चाहिए। लेकिन आपने मुझे उलटा एक धर्म-संकट में डाल दिया है।'

'सो क्या?'

मैंने अपनी उथल-पुथल बताई व कहा कि इस धर्म-संकट से मुझे बचा लीजिए। इस सूची में यदि आदमी कम किये जा सकें तो एक बार देख लीजिए और मुझ पर यह बोझ कम-से-कम रखिए।'

उन्होंने 'अच्छा' कहकर अपने एक भाई को बुलाकर सूची में काट-छांट करने के लिए कहा। थोड़ी देर में वे ३०-३२ की सूची बनाकर लाये। कन्हैयालालजी ने सूची देखी, एक मिनट सोचा व मुझसे कहा—'भाऊ साहब', आपने यहां आकर सबका व मेरा भी भला ही किया है। आप जैसे पाप-भीरु को यह बोझ असह्य लग सकता है। आपके इतने सहवास का मुझ पर काफी असर पड़ा है। मेरे मुंह से यदि कोई बात झूठ निकलने लगती है तो जबान दब जाती है व खयाल होता है कि कम-से-कम भाऊ साहब से तो झूठ न कहूं। आपने यहां आकर एक दावानल को शान्त किया है। मैं तो चकित हूं कि किस धैर्य से आपने मेरी एक की एक बात को बार-बार सुना है व तनिक भी अकुलाहट या झुंझलाहट नहीं आने दी। अतः आप पर यह बोझ अब अन्याय ही होगा। मैं तो इन सभी को काम पर लिये लेता हूं—जैसा कुछ भगवान को मंजूर होगा, वह हो जायगा।'

मुझे मानो सेठजी ने अमित पुरस्कार दे दिया हो, उबार लिया हो—ऐसा लगा। मैंने हर्षित स्वर में कहा—'कन्हैयालालजी, आप खुद बहुत अच्छे मुन्तजिम, बड़े रौब-दाब व धाक के आदमी हैं। बड़े-बड़े गुण्डों को ठीक कर सकते हैं। जो आपकी ही मिल में काम करते हैं उन्हें अपने कब्जे में रखना आपके लिए कौन कठिन बात है। मुझे तो आश्चर्य था कि आप इन लोगों के विषय में क्यों इतना आत्म-विश्वास खो रहे हैं। मगर मैं समझता हूं, अब भगवान आपके हृदय में से प्रकट हुआ है और उसने मुझ गरीब को धर्म-संकट से बचा लिया है।'

मैं आज भी इस घटना में अहिंसा-माता के आशीर्वाद के ही दर्शन कर रहा हूं। उलझी हुई बात को सुलझाने में सबसे पहले हमें यही देखना चाहिए कि लोगों के हृदयों को चोट कहां-कहां व कैसे-कैसे लगी है? पहले उसका इलाज कर लेने से दूसरी उलझनें जल्दी सुलझ जाती हैं। हृदय के भावों—घात-प्रतिघातों—की उपेक्षा करके कोई कोरे बुद्धि-

कौशल से, तरकीबों से समस्याएं सुलझाना चाहें तो वे उन्हें उलझा देंगे। हृदय का मार्ग अहिंसा का, प्रेम का, सहन-शीलता का, धैर्य का है। कोरे बुद्धि-कौशल या तर्क का मार्ग एक धोखा साबित होता है, जो अन्त में परिणामतः सबके लिए हिंसात्मक साबित हो रहता है।

: ४४ :

दो अहिंसा-धर्मी

सम्भवतः १६२२-२३ की बात है। मैं ग्वालियर से साबरमती (अह-मदाबाद) जा रहा था। बांदीकुई में रात को कोई २-३ बजे गाड़ी बद-लनी पड़ती है। देहली से जो गाड़ी अहमदाबाद चलती है उसमें आगरे से बैठने वाले मुसाफिरों को यहां सवार होना पड़ता है। रात में मुसा-फिर आमतौर पर सोये रहते हैं। मैं जो एक डिब्बे में घुसा तो प्रायः एक-एक पटरी पर एक-एक शख्स को सोये देखा। मैं किसी को जगाना तो नहीं चाहता था, सिर्फ बैठने-भर के लिए पटरी पर एक कोना तलाश कर रहा था। एक पटरी पर किसी के सिरहाने जरा-सी जगह देखी तो आहिस्ता से बैठ गया। मेरे न चाहते हुए भी उसकी नींद खुल गई। उसने छूटते ही पांच-चार गालियां मुझे सुना दीं। 'आये बड़े गांधी टोपी लगा के, दूसरे के आराम-तकलीफ का कुछ खयाल नहीं करते' यह तो वह वाक्य था जिसे मैं कागज पर लिख सकता हूं। गांधी व गांधी टोपी पर उसने खूब ही अपने जी की जलन मिटाई। मैंने पूछा—'आप बीमार हैं क्या?'

'तो क्या बीमार को ही आराम-तकलीफ होते हैं, दूसरों को नहीं?'

'नहीं सो नहीं, मेरा यह उसूल है कि बीमारों, बूढ़ों, बच्चों, स्त्रियों को रेल में पहले जगह या आराम मिलना चाहिए। अगर इनमें से आप कोई हों तो मैं उसी तरह व्यवहार करूं।'

'लेकिन क्या सोये हुए को उठाने से तकलीफ नहीं होती? गांधीजी

ने क्या यही अहिंसा-धर्म आप लोगों को सिखाया है ?'

'मैं खुद नहीं चाहता था कि आपको जगाया जाय, इसलिए तो मैं इतने आहिस्ता से बैठा—आखिर बैठने-भर का तो मुझे भी अधिकार है। आप जग पड़े इसमें मेरा तो कोई कुसूर नहीं है।'

मेरे इस जवाब पर, जो मैंने बहुत ही नरमी और शान्त भाव से दिया वह उठ बैठा; तो मेरे बैठने के लिए खाली जगह हो गई। मैं सोचता रहा कि आखिर यह गांधी टोपी व गांधीवादी पर अपनी जलन क्यों निकाल रहा है ? कुछ दिन पहले ही कराची में विदेशी कपड़े की दुकानों पर कांग्रेस-स्वयं-सेवकों द्वारा बड़ा कड़ा पिकेटिंग हुआ था। मुझे खयाल हुआ कि कहीं यह कराची का कोई विदेशी कपड़े का व्यापारी न हो। मैंने जिज्ञासा से पूछा—

'आप सिंध जा रहे हैं ?'

'हां, कराची जा रहा हूं।'

यह सुनते ही मेरे दिमाग में कुञ्जी लग गई। मैंने हंसते हुए कहा—'तो अब मैं समझ गया, क्यों आप गांधी टोपी पर इतने चिढ़े हुए हैं ? आप कपड़े के व्यापारी हैं क्या ?'

'हां, साहब, आपके वालण्टियरों ने हमें खूब सताया है।'

'तो वहां की कसर आप मुझ पर निकाल रहे थे ?' मैंने मुसकराते हुए कहा।

अब वह शर्मिन्दा हुआ। 'सब आदमी एक-से थोड़े ही होते हैं। आपकी तरह सब शरीफ हों तो क्या बात है ?'

'इसमें तो शराफत की कोई बात नहीं है। साधारण मनुष्य-धर्म है कि जहां तक बने अपने स्वार्थ व सुख के लिए किसी को कष्ट न दे।'

अब तो वह और भी लज्जित हुआ। आगे बातचीत से मालूम हुआ कि वह जैनी है। तब मैंने कहा—

'आप तो अहिंसा-धर्मी हैं, मैं नया अहिंसा-धर्मी हूं। आपने मुझे इतनी गालियां दीं वे किस अहिंसा-धर्म के मुताबिक दीं ?'

'हां साहब, वह तो मेरी जहालत थी।'

'तो मैंने आपकी गालियां सहकर और प्रेम से आपके साथ पेश आकर अहिंसा-धर्म का अधिक परिचय दिया या आपने? अब सच्चा जैनी—अहिंसा-धर्मी—कौन ठहरा?'

'साहब जीत तो आपकी हुई—हम तो अहिंसा का नाम-भर लेते हैं, आपने सच्ची अहिंसा का नमूना दिखाया है—लेकिन सब तो ऐसे नहीं होते। आप कहां जा रहे हैं?'

'लेकिन सब बुरे भी तो नहीं होते। आपने छूटते ही यह कैसे मान लिया कि मैं आपको सताने वालों में से ही हूं। या जिन्होंने पिकेटिंग किया है वे सब आपको सताने की ही भावना रखते थे। उनको आपसे व्यक्तिगत वैर तो था नहीं। वे अपना कर्त्तव्य-पालन कर रहे थे। जो लोग विदेशी कपड़ा बेचकर पाप कमाते हैं, देश को गुलाम बनाते हैं, उनको वे तो उल्टा पाप से बचाने का प्रयत्न करते हैं। अतः धन्यवाद के पात्र हैं, न कि निन्दा व गाली-गलौज के।'

'लेकिन इससे हमारी गर्दन जो कट जाती है?'

'तो आप विदेशी कपड़े को छोड़कर और कोई व्यापार क्यों नहीं कर लेते?'

'यही तो मुश्किल है, लोभ नहीं छूटता।'

'तो अपने लोभ के लिए दूसरों को क्यों गालियां देते हो? यह कहां का धर्म व अहिंसा है?'

अब तो सेठजी पानी-पानी हो गये। ऊपर की सीट पर उनका भतीजा सोया हुआ था, उसे नाम लेकर जगाया। कहा—'उठो, तुम नीचे बैठो, ऊपर इन पंडितजी को सोने दो।'

मैंने मना किया—'उसे सोने दो व आप भी सोओ, मुझे तो इतनी बैठने-भर के लिए जगह काफी है।'

उन्होंने किसी तरह न माना व उसे उतारकर मुझे वहां सोने पर मजबूर कर दिया। इस तरह अखीर में दोनों 'अहिंसा-धर्मी' हो रहे।

: ४५ :

गरीबों का सेवक

१६२६ से मेरी दिलचस्पी बोल्शेविक साहित्य से हुई। उस समय 'कम्युनिज्म' की बनिस्वत 'बोल्शेविज्म' शब्द का अधिक प्रचार था, रूस की बोल्शेविक क्रांति द्वारा यह शब्द अधिक प्रचलित हो गया था। श्रम-जीवियों की ओर से 'शोषण' न होने का जो नारा उठाया गया था उसमें मुझे तथ्य दीख पड़ा। तब से मैं उस साहित्य का थोड़ा-बहुत अध्ययन करने लगा। इन्दौर में श्री सरवटे साहब ने 'बोल्शेविज्म' पर एक पुस्तक मराठी में लिखी; जिसका मैंने हिंदी अनुवाद किया था और वह प्रकाशित भी हो गई थी। 'हिंदी-नवजीवन' के लिए साबरमती जाने पर तो गांधीजी का गहरा रङ्ग चढ़ गया और एक कुरता, टोपी, धोती यह मेरा पहनावा हो गया। सादगी व हाथ से काम करना मुझे बचपन से ही पसन्द है विद्यार्थी-जीवन में ही—१६११में—काशी से 'औदुम्बर' मासिक चलाने लगा था, फिर भी नंगे पांव रहने, बाजार से खुद सौदा-सुलफ कंधे या सिर पर लाद लाने में और उसी दशा में परिचित जनों से मुलाकात हो जाने में मैं न संकोच करता था, न झेंपता था। बल्कि एक प्रकार का गौरव अनुभव करता था। महात्माजी के पास जाने पर इस वृत्ति में वढ़ती ही हुई। शायद १६२२ में किसी समय मुझे इन्दौर के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री बापना से मिलने जाना पड़ा। नंगे पांव, खादी टोपी, मोटी खादी का एक कुरता, व धोती, दाढ़ी भी कुछ बढ़ी हुई, ऐसी शक्ल में उनसे मिला। इस रूप में यह पहली ही मुलाकात उनसे थी। मेरा यह

रूप-रङ्ग उन्हें कुछ नागवार लगा। उनकी 'सुसंस्कृत-रुचि' को शायद उससे कुछ धक्का लगा। शुरू में और-और बातें हो जाने के बाद उन्होंने मुसकराते हुए पूछा—'यह क्या भेस आपने बनाया है?'

'गरीबों की सेवा का निश्चय किया है, सो गरीबों से मिलता-जुलता पहनावा रखा है। इससे ज्यादा सादा लिबास और क्या हो सकता है?'

'लेकिन आप तो अकेले गरीबों में काम नहीं करते। अमीरों, राजा, रईसों व बड़े आदमियों से भी तो मिलते-जुलते हैं। अतः पोशाक में उनकी रुचि का भी ध्यान रखना चाहिए न? किसान-मजदूर हमारे पास आते हैं तो नीचे खड़े रहते हैं, लेकिन आप आये तो हम आदर से पेश आते हैं, हाथ मिलाते हैं!' उन्होंने बहुत मृदुल स्वर में सरल भाव से व बिलकुल अपनेपन के साथ कहा। लेकिन 'किसान-मजूर नीचे खड़े रहते हैं' यह शब्द मुझे खटका व जरा झुंझलाकर मैंने कहा—

'मैं आपका बहुत एहसानमंद हूं, जो आपने कमरे में बुलाया, हाथ मिलाया व इज्जत के साथ बैठाया; परन्तु अगर मैं गरीबों व किसान-मजदूरों का सच्चा सेवक हूं तो उनके साथ नीचे खड़े रहने में भी अपना गौरव मानता। आपके यहां यदि उनका स्थान नीचे है तो मेरा भी नीचे ही है।'

बापना साहब समझ गये कि सरल भाव से कही उनकी यह बात मुझे चुभ गई। उन्होंने तुरन्त कहा—'मैंने किसानों के लिए निरादर-भाव से यह बात नहीं कही—जो यहां का रिवाज है वह बताया। आप इसका बुरा न मानें। अपनेपन के भाव से ही मैंने यह कह दिया। मैं तो आपसे परिचित हूं, पर दूसरी जगह शायद कोई ऐसे लिबास से बुरा मान जाय—इसलिए आपको सुझा दिया, और कोई बात नहीं।'

'लेकिन हमारी भी तो रुचि-अरुचियां होती हैं। यदि कोई हमसे अपनी अभिरुचि का खयाल रखने की उम्मीद रखता है तो हमारी अभिरुचि का खयाल उन्हें भी क्यों न रखना चाहिए? ये विलायती कपड़े व साज-सामान हमारे भी दिल को बड़ा धक्का पहुंचाते हैं, तो क्या

हम इस दृश्य को सहन नहीं करते हैं ?'

'आपका कहना वैसे ठीक है; पर अभी हम लोगों के लिए यह सब दृश्य नया है—इससे अजीब मालूम होता है।' उन्होंने बात को ठंडी करने के उद्देश्य से कहा।

'मैं आपके भाव को समझता हूं; मेरे कहने का भी आशय इतना ही था कि जहां गरीबों व किसानों का स्थान है, वहीं उनके सेवकों का भी स्थान है, और यदि,मैं उनका सच्चा सेवक हूं तो मुझे इसमें झेंप या शर्म न मालूम होनी चाहिए।'

जिस तरह मुझे आपने ब्राह्मणत्व पर—त्याग, तप व ज्ञान के आदर्श पर—गर्व है, उसी तरह गरीबों के सेवक होने की भावना पर भी गर्व अनुभव करता हूं। ठाठ-बाट व सादगी में जब कभी चुनाव के अवसर आते हैं, मैं हमेशा सादगी को पसंद करता हूं। घर में जब कभी ज्यादह आराम मिलने लगता है तो घबराने लगता हूं, सोचने लगता हूं कि कुछ अस्वाभाविक बात होरही है। एक बार वर्धा में श्रीघनश्यामदासजी बिड़ला के साथ स्व० जमनालालजी के यहां भोजन कर रहा था। दूध व छाछ दोनों साथ-साथ परोसे जारहे थे। मुझसे पूछा गया आप दूध लेंगे या छाछ ? मैंने जरा रुककर जवाब दिया 'छाछ'। 'घनश्यामदासजी तो बड़े मार्मिक दृष्टि वाले हैं' झट पूछा—'क्यों, जवाब देने में रुके क्यों थे ?' मैंने कहा, 'मैं यही सोचने लगा था कि उत्तम वस्तु लूं या मध्यम ? जब ऐसी दो वस्तुओं का चुनाव मेरे सामने उपस्थित होता है तो मुझे मध्यम व कनिष्ठ वस्तु लेना ज्यादा प्रिय होता है। 'घनश्यामदासजी तो री 'मूर्खता' पर हंसे ही; परन्तु इस चुनाव में मेरे सामने दो नीतियां थीं—एक तो यह कि अपने लिए मध्यम या कनिष्ठ चीज लेते हैं तो उत्तम वस्तु दूसरों के लिए बच रहती है, दूसरे, इससे मध्यम या कनिष्ठ लोगों से अपनी तन्मयता का अनुभव होता है। गरीबों में बैठने, उनके घर रहने, उनका-सा खाना खाने व वैसा ही रहन-सहन रखने में मुझे हार्दिक आनंद होता है। स्वास्थ्य इस योग्य नहीं रहा, अक्सर शहरों व कस्बों में ही

ज्यादा रहना पड़ा या पड़ता है, इससे वैसे जीवन का बहुत अभ्यास नहीं पड़ा, परन्तु मेरे हृदय को प्रिय तो वही जीवन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। गरीबों-से जीवन का मतलब गंदा, मैला, व्यसन-युक्त, असभ्य जीवन नहीं; सादा, भला, सरल व आडम्बर-हीन जीवन है।

: ४६ :

अहिंसा की जीत

१९३५ में इन्दौर में फिर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति महात्माजी बनाये गए थे। एक लाख की थैली उन्हें हिन्दी-प्रचार के लिए देने का निश्चय इन्दौर की स्वागत-समिति की ओर से किया गया था। इसके साथ ही इन्दौर में ग्राम-उद्योग-प्रदर्शिनी का भी आयोजन किया गया था। महात्माजी को इन्दौर लाये जाने व प्रदर्शिनी के आयोजन में मेरा कुछ हाथ होने के कारण इन्दौर के एक मित्र ने विरोध का बीड़ा उठाया। जाहिरा रूप उन्होंने इसे यह दिया कि इन्दौर की रकम इन्दौर में लगनी चाहिए। ऐसा आश्वासन न मिले तो, मुझसे कहा गया था कि, उन्होंने सम्मेलन में विघ्न डालने की सोची थी। इसके लिए उन्होंने हरिजनों को भिन्न-भिन्न ब्लाकों के टिकट खरीदवाये और यह तजवीज की थी कि जब सम्मेलन शुरू हो जाय तब वे हरिजन अपने पास वालों से कहें कि साहब जरा दूर हो जाइए, मैं हरिजन हूं। सम्मेलन में चूंकि सनातनी व पुराने विचार के बहुतेरे हिन्दू प्रत्येक ब्लाक में होंगे, वे इस सूचना से भड़ककर उठ खड़े होंगे व सम्मेलन भंग हो जायगा। सभापति महात्माजी हैं, अतः वे इस बात पर जरूर जोर देंगे कि हरिजन अपने स्थानों से न हटाये जायं—फलतः सनातनी सम्मेलन छोड़कर चल देंगे। इस षड्यन्त्र की खबर ज्यों-ही स्वागत-अधिकारियों को लगी वे घबड़ाये व मुझे बुलाया।

'यह आपके अजमेर का झगड़ा इन्दौर में क्यों फैल रहा है ?'

मैं—'क्यों क्या हुआ ?'

उन्होंने पूर्वोक्त षड्यन्त्र का हाल कहा व बताया कि 'मैं तो···को गिरफ्तार कराये देता हूं।'

मैं—'यह तो आप बड़ी भूल करेंगे। सम्मेलन न बिगड़ता होगा तो बिगड़ जायगा।'

'तो फिर क्या करें ? आपके यहां आने से यह सब-कुछ हुआ है।'

'यदि किसी को मुझसे दुश्मनी है तो वह आपका काम क्यों बिगाड़े ? मुझे चाहे जितना नुकसान पहुंचाले व पहुंचावे।'

किसी ने कहा—'पर महात्माजी के यहां आने से वे तो यह मानते हैं कि आपकी शक्ति बढ़ती है।'

मैं—'इसका तो अब कोई उपाय नहीं है। आप लोग उनसे यह कह सकते हैं कि सम्मेलन से हरिभाऊ का कोई वास्ता नहीं। सम्मेलन में खुद महाराजा साहब भी पधारने वाले हैं। सम्मेलन बिगड़ने से तो इन्दौर की ही नाक कटेगी। बिगाड़ना हो तो प्रदर्शिनी को बिगाड़ो जिससे हरिभाऊ की फजीहत हो।

आखिर उन्होंने किसी तरह कह-सुनकर विघ्नकारियों से समझौता कर लिया। अब मेरे कानों में यह भनक पड़ने लगी कि वे प्रदर्शिनी में कुछ उपद्रव करेंगे। बड़ा डर यह था कि कहीं आग न लगा दें। और प्रकार के विरोध व प्रदर्शन के तो हम लोग बहुत आदी हो चुके थे। पर भगवान् ने विरोधियों को सुबुद्धि दी—उन्होंने सिर्फ परचे बांटने व काली झण्डियों का प्रदर्शन करने की तजवीज की।

जब महात्माजी प्रदर्शिनी का उद्‌घाटन करने प्रदर्शिनी के अहाते में पधारे तो वहां इतनी भारी भीड़ जमी कि काली झण्डियां कहीं देखने से भी नहीं दीखती थीं। स्वागत-फाटक से अन्दर आने पर महात्माजी ने एक पर्चा मुझे दिया जिसमें मेरे बारे में कुछ झूठी बातें छपी हुई थीं। एक तो ऐसी सफेद झूठ गढ़ी कि मुझे पढ़कर हंसी आ गई। किसी एक मकान का पता दिया गया था, जिसकी शकल भी मैंने आज तक

नहीं देखी, और छपा था कि उसमें मैंने मिल-मालिकों से रुपये खाये। मैं इस झूठ से खुश ही हुआ; क्योंकि मिल-मालिक तो जानते ही हैं कि मुझे उन्होंने कोई रिश्वत दी है या नहीं। इससे मेरे प्रति मालिकों की सहानुभूति व आदर ही बढ़ सकता था, व उन पर्चेबाजों के प्रति घृणा ही हो सकती थी। जो हो। मुझे इस बात से दुःख जरूर हुआ कि ऐसे पर्चेबाज यह नहीं सोचते कि इससे तो वे खुद ही अपने पावों पर कुल्हाड़ी मारते हैं।

उद्घाटन-भाषण हो जाने के वाद मैंने महात्माजी से पूछा—

'यह पर्चा आपने पढ़ लिया है न?'

'हां पढ़ लिया है।'

'तो इसके संबंध में आप मुझसे कुछ पूछना चाहते हैं?'

'नहीं, इसमें क्या पूछना है? यहां भी लोग तुम्हारे पीछे पड़े हुए हैं!'

'इसकी आप चिन्ता न करें। मुझे तो इतना ही जानना था कि आप तो मुझसे कुछ नहीं कहना चाहते हैं?'

इस तरह दोनों समारंभ निर्विघ्न पूरे हो गये।

× × ×

झूठी अफवाहों का एक और प्रसंग मुझे याद आ रहा है। बिजोलिया-सत्याग्रह चल रहा था। मुझे खबर मिली कि वहां जो पुलिस अफसर तैनात हैं वे बड़ा जुल्म कर रहे हैं—यहां तक कि स्त्रियों के लहंगों के नाड़े कटवा देते हैं! मुझे इस पर यकीन तो नहीं हुआ, फिर भी इस खबर से मैं बहुत बेचैन हो गया। पता लगा कि उस पुलिस-अफसर से श्री नथमलजी चोरडिया को जान-पहचान या रिश्तेदारी है। मैंने सोचा कि उन्हें बिजोलिया भेजकर समझाया जाय कि जाब्ता-कानून के अनुसार सत्याग्रहियों के साथ जो करना जरूरी हो वही किया जाय, पर यह अमानुषिक कार्य क्यों? चोरडियाजी व मैं इस तरह बात-चीत कर ही रहे थे कि मोटर में वे पुलिस-अफसर सामने से गुजरे।

चोरडियाजी ने पहचानकर कहा—'लो वे तो ये सामने से जा रहे हैं। शायद स्टेशन जा रहे हों।' मैंने सुझाया—'तो आप जाकर उनसे वहीं मिल लीजिए।'

'आप भी साथ चलें तो क्या हर्ज है ?'

'आपका अकेला जाना ही ठीक है, फिर जरूरत होगी तो मैं भी आजाऊंगा।'

'तो आप स्टेशन पर ठहरे रहें, मैं मिल लेता हूं, जरूरत हुई तो आप भी मिल लें।'

चोरडियाजी प्रसन्न चित्त वापस आये। कहा—'नाड़े काटने वाली बात से तो इन्कार करते हैं—आप खुद जाकर जांच कर आइए। कुछ ऐसी बातें भी बताईं जिनसे यह झगड़ा निबटाने में सहूलियत हो सकती है। आप भी मिल लीजिए।'

हम मिलकर घर लौटे। थोड़ी ही देर में चोरडियाजी बाजार निकले। लौटकर बड़े अफसोस व ताज्जुब के साथ कहने लगे—'देखो जी, लोग कैसे खराब हैं। कहते हैं, चोरडियाजी ने १२०००) लेकर बिजोलिया की सुलह करा दी।'

मैं हंसा व विनोद में कहा—'बापू साहब, मुझे अब मालूम हुआ। इसी तरह रुपये खा-खाकर आप लखपति बन गये हैं व यह हवेली बनाई है !'

और हम दोनों थोड़ी देर तक हंसते रहे।

: ४७ :

रुपया बड़ा ?

वैसे तो राजस्थान में आते ही मैंने 'गांवों की ओर' की पुकार उठाई थी। जयपुर, उदयपुर के गांवों में होने वाले खादी-कार्य में दिलचस्पी लेता रहा था; परन्तु अजमेर-मेरवाड़ा में शुरूआत १९३०-३१ में ही हो सकी। १९२५ में जाकर 'ग्राम-सेवक मण्डल' की स्थापना हुई। कार्य तो कार्यकर्त्ताओं के बल पर ही हो सकता है, अतः सदैव नवीन कार्यकर्त्ता ढूंढने, उन्हें सुयोग्य बनाने व पुराने कार्यकर्त्ताओं की कठिनाइयां हल करने में भरसक अपनी शक्ति लगाता रहता हूं। अपने साथियों की मानसिक शांति व आर्थिक व्यवस्था का सबसे अधिक ध्यान रखता हूं। राजस्थान में कार्यकर्त्ताओं का संगठन व्यवस्थित रीति से हो, इस उद्देश से 'राजस्थान संघ' नामक संस्था कायम की गई, जिसके संचालक-मंडल में शुरू से तो श्री रामनारायणजी चौधरी, श्री हीरालालजी शास्त्री व मैं रहे; पर बाद में चौधरीजी हट गये व श्री पुस्तके तथा देशपांडेजी और शामिल हुए। मुझे बड़ा खेद है कि ३ साल चलकर यह संगठन टूट गया, इसमें लगभग २०-२५ प्रथम व द्वितीय श्रेणी के कार्यकर्ता सम्मिलित होगये थे, व १८-२० हजार रुपया साल का प्रबंध उनके अलाउन्स के लिए करना पड़ता था। मेरा यह मत है कि अपने अंगीकृत काम के बिगड़ने की जिम्मेदारी खुद अपने पर ही रहती है। अतः यदि मैं इस संघ के मुख्य प्रवर्त्तकों में से था तो इसके टूटने की मुख्य जिम्मेदारी भी मेरी ही होनी चाहिए। इसके टूटने की जो प्रतिक्रिया हुई उससे उबरने में मुझे ३-४ साल लग गये। वह क्यों

टूटा, इसका किस्सा बोधप्रद है, इसलिए सुनाये देता हूं।

संघ की आर्थिक जिम्मेदारी मुख्यतः मुझ पर, व भाई हीरालालजी पर थी—उसमें भी सबसे अधिक मुझ पर आ गई थी। ज्यों-ज्यों भाई शास्त्रीजी पर वनस्थली विद्यालय व जयपुर-प्रजा-मण्डल का बोझ बढ़ता जाने लगा—त्यों-त्यों राजस्थान-संघ का बोझ मुझपर पड़ने लगा। इसमें हम दोनों दो शरीर एक आत्मा की तरह थे—जब से, शायद १९२७ से मेरा उनका प्रथम परिचय हुआ है तब से हम ऐसा ही अनुभव करते आ रहे हैं। मेरे स्वभाव में एक बड़ी त्रुटि है। दूसरों के उपयोगी हो जाने की प्रवृत्ति मुझमें खूब है; पर मैं दूसरों का उपयोग कर लेने में बड़ा भीरु हूं। इस प्रवृत्ति से अधिकांश तो मेरे ब्राह्मणत्व को संतोष ही रहता है; परन्तु कभी-कभी दुःख के अवसर भी आ जाते हैं। किन्तु बाद में इस दुःख को भी मैंने अपनी ही कमी माना है। यदि मैंने सचमुच राजस्थान के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया है तो मैं यहां के किस व्यक्ति के कार्य को 'दूसरे का' कार्य मानूं ? जिसे मैंने अंगीकार किया है वह तो मेरा कार्य हई है; पर दूसरे जो कार्य करते हैं, यदि वे मेरे आदर्श, सिद्धांत व रीति-नीति के अनुकूल हैं तो वे भी मेरे ही हैं। परन्तु दूसरों का उपयोग किये बिना अपना अंगीकृत कार्य भी तो नहीं बनता ? इस समस्या को मैंने इस तरह हल किया है कि सीधी अपनी जिम्मेदारी पर कोई काम नहीं उठाना, उसके लिए कोई साथी या कार्यकर्त्ता आगे बढ़ जाय तो उसकी पीठ पर बने रहना। अतः जब बालकृष्ण (गर्ग) ने ग्राम-सेवा में रुचि दिखलाई, जिम्मेदारी ली व जीवन देने का संकल्प प्रकट किया तो मैंने उसके अध्यक्ष बन जाने की हामी भर ली। अस्तु, इस त्रुटि के कारण, राजस्थान-संघ, का अधिकांश बोझ मुझ पर आने लगा। इस बोझ से तो मैं नहीं घबराया; पर एक विचित्र भाव मन में पैदा हो गया—ऐसा अनुभव हुआ जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। राजस्थान में आने से पहले मुझे कभी सार्वजनिक कार्यों के लिए आर्थिक सहायता या चन्दा मांगने का

अवसर नहीं आया था। इधर आते ही ब्राह्मण की भिक्षा-वृत्ति जाग पड़ी; स्व० जमनालालजी व श्री घनश्यामदासजी के संपर्क की बदौलत धनिकों में आसानी से प्रवेश होगया, व धन भी आने लगा। मैंने सदा धन पर अपनेको सवार रखा है, अपने पर धन को सवार नहीं होने दिया। परन्तु न जाने क्यों, राजस्थान-संघ के लिए जब आखिरी बार धन लेने गया, भाई शास्त्रीजी भी साथ थे, तो ऐसा अनुभव होता था मानो रुपया मुझ पर सवारी गांठ रहा है—रुपया बड़ा व मैं उसके आगे बहुत छोटा होगया। ज्यों-ज्यों यह अनुभव होता था त्यों-त्यों मेरी आत्मा भीतर से बगावत करती जाती थी। अन्त को मैंने तय कर लिया कि जब तक रुपया मुझे बड़ा लगता है तब तक रुपया मांगने कहीं नहीं जाऊंगा। फलतः संघ की आर्थिक व्यवस्था बन्द कर देनी पड़ी व संघ का भौतिक कलेवर छूट गया। उसके कारण- मित्रों, साथियों व कार्यकर्त्ताओं से जो आत्मिक संबंध बंधा वह तो टूट ही कैसे सकता था?

× × ×

पिछले जेल-जीवन में मैंने राजस्थान के प्रायः प्रत्येक अपने साथी व मित्र कार्यकर्त्ता का ध्यान कर-करके यह भावना दृढ़ की है कि इस भिन्न शरीर के द्वारा मैं ही कार्य कर रहा हूं। जो मुझसे विरोध रखते हैं, दूरी अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा में भी अपना ही दर्शन करने का प्रयत्न किया है, व अब भी करता हूं। मैं यह नहीं कह सकता कि उनसे मेरा तादात्म्य हो गया है, पर मेरी साधना इसी दिशा में है। जब उनमें पूरा तादात्म्य हो जायगा, उनके प्रति हृदय में वही सजीव व सक्रिय प्रेम की धारा बहने लगेगी, जो अपने मित्र व साथी समझे जाने वाले व्यक्तियों के लिए बहती है, तभी अपनी अहिंसा की साधना को, इस सीमित क्षेत्र में सफल मानूंगा।

मेरा मत है कि रुपया कार्यकर्त्ता के पास आना चाहिए; या अल्प आयास से प्राप्त होना चाहिए। जब तक रुपये के पास कार्यकर्त्ता को जाना पड़ता है तब तक या तो उसने कार्य अपनी योग्यता, शक्ति और

तप से बड़ा उठा लिया है या अपने से रुपये को बड़ा मानने में उसे कोई संकोच नहीं है। यदि मुझे आपके पास जाना पड़ता है तो निःसंदेह आप बड़े हैं, मैं छोटा हूं। जब तक यह बड़े-छोटे का भाव मन में है तब तक मनुष्य को यही यत्न करना चाहिए कि वह बड़े की गिनती में आवे। अर्थात् वह अपनी योग्यता, त्याग व तप को बढ़ावे। इससे एक समय ऐसा आ जाता है जब वह सबको सम-दृष्टि से देखने लग जाता है और आगे चलकर तो वह सम-दृष्टि भी ऐक्य-भाव में बदल जाती है। 'समता' में दो का अस्तित्व है; जब तक दो का अस्तित्व है तब पूर्ण आत्मोन्नति, आत्म-प्राप्ति नहीं हुई। सब में, जीव-मात्र में एकत्व के अनुभव को ही पूर्ण मनुष्यता या आत्म-सिद्धि कह सकते हैं। इस स्थिति का आनन्द अवर्णनीय है।

: ४८ :

कष्ट के समय में

अहिंसा का एक लक्षण यह है कि खुद ज्यादा-से-ज्यादा कष्ट उठाकर भी प्रसन्न रहे व दूसरों को अधिक-से-अधिक सुख-संतोष देने में प्रसन्नता का अनुभव करे। दूसरों की खुशी में, खुशी के अवसरों पर जरूर उनके काम आवे। मैं देखता हूं कि बचपन से ही मेरी प्रवृत्ति इस ओर है। अब मैंने अपनी साधना का भी एक अंग इस प्रवृत्ति को बनाया है। इसके सूचक कुछ खास अवसर मुझे याद आ रहे हैं।

सरकारी अधिकारी, राजा-रईस, सेठ-साहूकार, इनके यहां मैं बिना बुलाये या बिना काम से प्रायः नहीं जाता। इसलिए नहीं कि मुझमें कोई मिथ्या अहंकार इस संबंध में है, बल्कि इसलिए कि ये लोग उसका गलत अर्थ लगा सकते हैं। किसी गरीब या साधनहीन के यहां यों ही चले जाने से वह सहसा यह नहीं समझता कि ये अपना कोई स्वार्थ साधने आये हैं। परन्तु धनी-मानी व सत्ताधारी प्रायः इसका यही अर्थ लगाते हैं। श्रद्धेय जमनालालजी अक्सर कहा करते थे कि जब मेरे पास कोई आता है तो मैं पहले यह सोचता हूं कि यह अपना कोई काम बनाने मेरे पास आया होगा। नहीं तो मुझ धनी के पास इन्हें आने का क्या प्रयोजन? अतः जब मैंने अपना स्वार्थ अपने रोटी-कपड़े से अधिक नहीं रखा है तो फिर मैं बिना काम, क्यों कहीं जाऊं? पूज्य बापूजी तक से मैं बिना काम नहीं मिलता, व बिना जरूरत के कभी खत नहीं लिखता। इसमें अपने व उनके दोनों के समय

व शक्ति के अपव्यय का भी खयाल रहता है। उनका, अपनी व दुनिया की निगाह में 'बेकार' 'ठलुए' की गिनती में न आने का भाव भी शामिल है। अब तो मुझे ऐसा भी लगने लगा है कि बिना काम, बिना प्रयोजन, किसी से भी बोलना, किसी से मिलना, कहीं जाना फजूल ही नहीं हानिकारक भी है। इसका खयाल वही लोग नहीं रख सकते जिन्होंने जीवन को महत्त्वपूर्ण व मूल्यवान् नहीं समझा है।

कलकत्ते में एक सेठ-मित्र हैं। कहीं इत्तिफाक से या काम से मिलना हो जाता तो मिल लिया करता था। एक बार जब वहां गया तो मालूम हुआ कि उनका दिवाला निकल गया है व वे बहुत दुःखी हो गये हैं। उनके चित्त पर भी इस दुर्घटना का बहुत बुरा असर पड़ा है। वे बहुत दूर रहते थे। फौरन दौड़ा गया और उनसे कहा कि आज चलकर व सब कामों को छोड़कर आपके यहां आना मेरा धर्म था। जब आप सेठ थे, तो आपके पास अपने सुख-शांति के विपुल साधन थे। अब आप साधन-हीन व दुखी हैं। यदि मैं आपका किसी भी अर्थ में मित्र हूं तो मेरी आवश्यकता अब आपके पास है। आप चाहें तो मैं दिन-भर आपके पास रहूंगा। मैं शायद एक-दो दिन उनके यहां ठहरा भी था। इससे उन्हें बड़ी तसल्ली मिली। अब वे फिर सेठ हो गये हैं और कभी-कभी मिलने पर दुआ-सलाम हो जाती है। जब कभी सार्वजनिक कामों के लिए रुपयों की जरूरत होती है तो उनकी तरफ भी खयाल जाता है, पर कई बार मन में यह विचार आजाता है कि कहीं वे यह न समझें कि मैं उनसे अपनी उस सेवा का प्रतिफल मांग रहा हूं —या उन्हें देने में उस बात का भी खयाल आ जाय।

× × ×

मेरे एक साथी मित्र हैं। मुझसे नाराज होकर अलग काम करने लगे थे। मुझे अपना विरोधी, शायद अपनी उन्नति या मार्ग में बाधक भी, मानने लगे थे। एक बार वे सहसा बीमार हो गये, ऐसे जोर का दिल का दौरा उठा कि यह अन्देशा हो गया कि अब की सांस

आये न आये। मैं उनकी छाती पर लेटकर तब तक चिपटा रहा जबतक उनको ऐसा न लगा कि जीवन फिर लौट आया व जब तक उनके इलाज का माकूल इन्तजाम न हो गया, वहां से नहीं हटा। इसमें मुझे हार्दिक सन्तोष व खुशी का अनुभव होता है।

अजमेर जेल में एक रोज जेल-सुपरिंटेंडेंट बहुत घबराये हुए आये। मुझे व विशंभरजी[1] को बुलाया—'.........की हालत बहुत खराब हो गई है, पेशाब में एसीटोन आने लगता है। किसी भी क्षण उनकी मृत्यु हो सकती है। आप चाहें तो मैं उनकी सेवा के लिए आपको उनके पास रख सकता हूं।' ये एक राजनैतिक कैदी थे, जेल वालों से झगड़ा होने पर भूख भड़ताल कर रखी थी, एक दिन पानी तक न पीने से हालत बहुत खराब हो गई थी। प्रलाप शुरू हो गया था। जब हम वहां गये तो हमें भी उनके बचने के कोई लक्षण नहीं दिखाई दिये। बाद में भाई लादूरामजी जोशी भी आ गये। यदि वे न आये होते तो उन मित्र को संभालना असंभव था। यह लादूरामजी की ही हिम्मत थी कि उनके हाथ-पांव पछाड़ने को किसी तरह काबू कर सकते थे। एक रात तो हम सब निराश हो गये। सब लक्षण ऐसे थे कि आज रात मुश्किल से कटेगी। मैं कभी उनके पास, कभी कुछ दूर घण्टों भगवान् का नाम स्मरण करता रहता था। हृदय से प्रार्थना निकलती कि भगवान् क्या इस अपयश के के ही लिए तूने इस सेवा-कार्य में हम लोगों को जुटवाया? हम सबको बड़ा आश्चर्य व महान् आनन्द हुआ, जब सुबह होते-होते उनकी हालत सुधरने लगी व दोपहर तक तो ऐसा मालूम होने लगा, मानो इन्हें कोई बीमारी ही न रही। अन्त को वे अच्छे हो गये और अब पहले की तरह ही हट्टे-कट्टे हो गये हैं। मैंने परमात्मा को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया—न जाने किनके पुण्य से उन भाई की जान बची। मैं निश्चय पूर्वक कह

१—श्री विशंभरनाथजी भार्गव, भूतपूर्व मन्त्री प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी अजमेर व मेरे विश्वसनीय साथी।

सकता हूं कि इन भाई की किसी सुख या खुशी के अवसर पर जाने का अवसर आये तो मुझे कदापि वह हर्ष व सन्तोष न होगा, जो उनकी इस कठिन अवस्था में उनको यत्किंचित् सेवा-शुश्रूषा से हुआ। परमात्मा से मेरी सदैव यह प्रार्थना रहती है कि ऐसी सेवाओं को भूल जाने की शक्ति वह देता रहे।

कई लोगों को मैं देखता हूं कि वे ऐसे प्रसंगों को याद रखकर उन व्यक्तियों से बहुत तरह से लाभ उठा लेते हैं, व उनका उपयोग भी कर लेते हैं। जब मेरी व्यवहार-बुद्धि प्रधान या प्रबल होने लगती है तो मुझे कभी-कभी यह खयाल होने लगता है कि यह अपनी बेवकूफी तो नहीं है। पर ऐसे समय कोई भीतर से कहता है, 'हरिभाऊ यह बेवकूफी अच्छी है। तुम्हारे मन में जो इतना विकल्प उठता है, यह भी तुम्हारी कमजोरी ही है। सेवा तो वही है जो की व भूल गये। यदि धीरज रखोगे तो व्यवहार-दृष्टि से भी तुम घाटे में न रहोगे।'

एक बार मुझे भाई लादूरामजी की जरूरत हुई। वे मेरे उन साथियों में हैं जिनमें मैं देवत्व के दर्शन करता हूं। वे जयपुर-प्रजा-मंडल में काम कर रहे थे, भाई शास्त्रीजी को मैंने लिखा। उन्हें भी उनकी आवश्यकता थी ही। उन्होंने उन्हें आने देने में असमर्थता-सी प्रकट की। मेरे मन में आया व शायद शास्त्रीजी को लिखा भी था कि आप लोगों की जरूरत होती है तो मैं सब काम-धाम छोड़कर दौड़ आता हूं, लेकिन जब मेरी कोई जरूरत होती है तो अक्सर लोग टाल-मटूल कर देते हैं। दूसरे साथियों व मित्रों ने भी बाज-बाज दफा इसका इशारा किया है। परन्तु थोड़ी ही देर बाद मुझे ऐसा लगा कि जयपुर-प्रजा-मंडल का काम मैं दूसरे का क्यों समझूं? क्या शास्त्रीजी मेरे लिए 'दूसरे' हैं? क्या जयपुर-प्रजा-मंडल की स्थापना के प्रेरकों व सहायकों में मैं नहीं हूं? क्या मैंने यह नहीं कहा है कि जब जयपुर आता हूं, या जयपुर का खयाल आता है तो मैं भूल जाता हूं कि मैं जयपुर का नहीं हूं। क्या जयपुर से मेरा इतना तादात्म्य नहीं है। क्या सारे राज-स्थान की सेवा का, राजस्थान की आत्मा में अपनी आत्मा मिलाने क

मैंने संकल्प नहीं किया है ? तो फिर क्यों यह भाव मेरे मन में आता है ? इसका कारण है यह एहसास कि शास्त्रीजी का व मेरा काम अलहदा है। मैंने अपनी भूल पकड़ ली व शास्त्रीजी को लिखा कि यह मेरी गलती थी, जो मैंने इस भेद-भाव की भाषा का प्रयोग किया। जिसे मैंने 'अपना' काम समझा है, वास्तव में उसे 'परमात्मा का' काम समझना चाहिए। यदि वह काम परमात्मा का है तो उसका साधन जुटाने, उसे सफल बनाने की ज्यादा चिन्ता परमात्मा को होनी चाहिए, मैं तो उस पर श्रद्धा रखकर जो कुछ बन सके वह ईमानदारी से करता रहूं। इस विश्वास में कितनी मानसिक शान्ति है, कितने मानसिक श्रम व शक्ति की बचत होती है, उखाड़-पछाड़ कितनी अनावश्यक प्रतीत होती है, फिर भी सफलता कैसे प्रत्यक्ष आती हुई दीखती है, इसका अनुभव व आनन्द लिखकर या कहकर नहीं बताया जा सकता। तुलसीदास के इस भजन में यही मर्म बड़ी सुन्दरता से बताया गया है—

"मम हृदय-भवन प्रभु तोरा। तहँ आय बसे बहु चोरा॥
कह तुलसीदास सुनु रामा। लूटहिं तस्कर तव धामा॥
चिन्ता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होई तुम्हारा॥"

: ४६ :

पूर्णाहुति

अब एक अन्तिम संस्मरण लिखकर इन अनुभवों को समाप्त करूंगा। यह बात तो है शायद १६२८ की, पर चूंकि वह मेरे मन में सदैव तरोताजा बनी रहती है, और मुझे राजस्थान की सेवा में सजीव प्रेरणा देती रहती है, अतः उसी का स्मरण करके इस पुस्तक की पूर्णाहुति करना ठीक रहेगा।

राष्ट्रीय विद्यालय साबरमती के वार्षिक उत्सव के सिलसिले में महात्माजी सहित सब लोग छात्रों का एक नाटक देख रहे थे। शाम का वक्त था—महात्माजी को एकाएक गश आ गया। सब लोगों के होश फाख्ता हो गये। फौरन ही वे एक चारपाई पर लिटा दिये गये। चेहरा बिलकुल पीला पड़ गया। आंखें मुंद गईं। सिर्फ हलकी-सी सांस चलती थी, जिससे लोग थोड़ा-बहुत धीरज बांधे हुए थे, फिर भी यह खटका नंगी तलवार की तरह सिर पर लटक रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि अगली सांस न आवे। तात्कालिक उपाय होने लगे, डाक्टरों के लिए मोटरें दौड़ीं। सबकी घबराहट,व बेचैनी का अन्दाज पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। उन दिनों महात्माजी ने दूध पीना छोड़ दिया था, बादाम का दूध बनाकर पीते थे, कच्चे केलों को भाप से पकाकर खाते थे। प्राणी के दूध से बचाने की दृष्टि से यह खुराक का प्रयोग चल रहा था। इससे महात्माजी काफी दुर्बल होचुके थे। कहते हैं कि इस दुर्घटना से खुद उन्हें भी ऐसा लगने लगा था कि अब शायद यह शरीर अधिक समय तक न टिके।

इसका एक पूर्ववर्ती आधार भी बताया जाता था। १९१८ में महात्माजी काफी बीमार होगये थे—कहते हैं एक दिन ऐसी अवस्था हुई कि उन्हें लगने लगा कि अब चले। लेकिन मन में खयाल आया कि अभी तो अपना काम बहुत बाकी रह गया है। हृदय से प्रार्थना निकली कि भगवान् १० साल और मिल जायं तो सब काम पूरा होजाय। उसके बाद से वे चंगे होने लगे। इन दस साल की मियाद भी इस वर्ष (१९२८ में) खत्म हो जाती थी। अतः उन्हें ऐसा लगा कि अब चलने के दिन आगये। जब यह खबर मैंने सुनी तो मेरे मन पर यह असर हुआ कि महापुरुष संकल्प-जीवी होते हैं। जब खुद बापू को ही ऐसा लगने लगा कि चले तो फिर खुदा ही खैर करे। स्व० जमनालालजी वहीं थे। उनके मेरे बीच बातचीत हुई। 'बापू का अब ठिकाना नहीं है। पता नहीं किस दिन दगा दे जायं। अब उनका शरीर बहुत ही खोखला होगया है। किसी से उन्होंने कहा भी था कि मुझमें करुणाभाव इतना अधिक आगया है कि वह शरीर उसके बोझ को संभाल नहीं सकता। ऐसी दशा में हम अपने कर्तव्य का जरूर विचार कर लें। पहली बात तो यह तय पाई कि अपनी तरफ से बापू पर शारीरिक व मानसिक बोझ कम-से-कम पड़ने दें। उनका अधिक-से-अधिक बोझ खुद उठा लेने का यत्न करें, पर यह मुमकिन न हो तो कम-से-कम अपनी उलझनों व कामों का बोझ उन पर न पड़ने दें। जहां सैद्धांतिक कठिनाइयां आवें अपनी बुद्धि काम न दे, वहीं सिर्फ उनसे पूछ लिया जाय। अब अपने पैरों के बल खड़ा रहना ही उचित है। बापू के जीते जी यह दिखा दें कि हम जिम्मेदारियों को उठाने की क्षमता रखते हैं और उन्हें निबाहने की योग्यता भी। हमने यह निश्चय करके सोचा भी कि पूज्य बापूजी को इससे वाकिफ कर दें।

किंतु जब यह खयाल हुआ कि बापू शायद न रहें तो यह भी इच्छा होनी स्वाभाविक थी कि कुछ दिन साबरमती ही ठहर जावें। जब हालत ठीक-ठाक होजाय तो फिर चलें। पर साथ ही यह भी विचार आया कि अभी तो स्वावलम्बी बनने का निश्चय किया और अभी से यह कमजोरी

आने लगी। महज उन्हीं के खातिर ठहरना बापू को भी अच्छा नहीं लगेगा। बल्कि ऐसी भयानक चिंता सामने खड़ी रहने देकर भी यदि हम लोग अपनी ड्यूटी पर चले गये तो उन्हें अधिक संतोष ही होगा।

चुनांचे हम बापू के स्थान पर गये। दोनों ने अपना निश्चय उन्हें सुनाया—

'कल की आपकी मूर्च्छा देखकर हमने एक विचित्र निश्चय किया है। हम लोग अपना कोई बोझ आप पर नहीं पड़ने देंगे—सिवा सिद्धांत, नीति-संबंधी मार्ग-दर्शन के। सो भी बहुत गाड़ी अटक जाने पर ही। आपके सिद्धांत सत्य, अहिंसा हमारे हृदय में बैठ गये हैं। अपनी बुद्धि व शक्ति के अनुसार उनको समझने व पालने का यत्न करते रहेंगे। जब तक आप हैं तब तक तो कठिनाई के अवसर पर आपसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करेंगे ही—पर आपको एक-न-एक दिन जाना ही है; अब तो पता नहीं आप कब चल दें, और हमें तथा देश को व संसार को एक दिन उस भयानक अन्धकार का सामना करना ही है, तो हमने सोचा कि हम अभी से उस दिन के लिए अपने मन को तैयार कर लें और जब तक आप बैठे हैं अपनी जिम्मेदारी पर काम इस तरह करें जिससे आपको कम-से-कम कष्ट व अधिक-से अधिक सन्तोष हो। पहले तो हमारा इरादा हुआ कि कुछ दिन ठहर जावें, पर अब यही निश्चय किया है कि आज हम अपने स्थानों को चले जाकर अपने कामों में जुट जावें; आपको प्रणाम करने आये हैं।'

बापू बोले—'यह निश्चय मुझे प्रिय लगा है। मेरे शरीर को तुरन्त ही कुछ होने वाला है, ऐसा तो नहीं लगता; परन्तु मनुष्य को तैयार हर अवस्था के लिए रहना चाहिए। तुम लोग खुशी से जाओ।'

किसी को क्या पता था कि जमनालालजी तो बापू से पहले चल देंगे। उस समय जब हमने पूर्वोक्त निश्चय किया तब कम-से-कम मेरे मन में यह खयाल जरूर था कि अपने लिए भाईजी—जमनालालजी—हुई हैं। अब तो मेरा वह सहारा भी निकल गया!

बापू का सहारा हमने जान-बूझकर छोड़ दिया। जमनालालजी का सहारा भगवान् ने छीन लिया। अब मीराबाई के शब्दों में—

'भवसागर सब सूख गया है फिकर नहीं मुझे तरनन की।'

और

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई'

वाली हालत हो गई है। परमात्मा अपने बन्दों के लिए जो अच्छा समझता है वही करता है। माता को वह प्रसव की असह्य पीड़ा देता है परन्तु उसमें उसका मांगल्य ही निहित रहता है जो शिशु के रूप में फिर प्रकट होता है।

सम्भवतः १९३२-३४ में पूज्य बापूजी ने उपवास किया था—२१ दिन का। मैं उस समय बम्बई में इलाज करा रहा था। सान्ताक्रुज में मित्रों ने उपवास के उपलक्ष्य में एक सभा की आयोजना की थी। स्वभावतः ही सब लोग घबराये हुए व चिन्तित थे। पर मैं विचलित नहीं हुआ था—अपना भवसागर तो पहले ही, पूर्वोक्त निश्चय के कारण, सूख चुका था—मैंने सभा में कहा—

'मुझे विश्वास तो यही है कि बापू इस अग्नि-परीक्षा में से सही-सलामत निकल आवेंगे। उनका शरीर भी इतनी सात्विकता को प्राप्त हो गया है कि इस उपवास से उनका अधिक शक्ति-व्यय न होगा। परन्तु हम जो उनके अनुयायी व भक्त हैं, उन्हें उनकी मृत्यु की कल्पना से भी घबराना नहीं चाहिए। यदि आज बापूजी को यह मालूम हो कि मेरे उपवास की चिन्ता से या मृत्यु की आशङ्का से, मेरे अनुयायी घबरा गये हैं, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होगये हैं, तो उन्हें बहुत दुःख होगा व इस तरह के ढेरों अनुयायियों को देखकर, उलटा वे जल्दी मर जाना पसन्द करेंगे; परन्तु यदि हमारी तरफ से उन्हें यह संदेसा पहुंचे कि हमें विश्वास है कि आप इस घाटी को सुख से पार कर जायंगे; परन्तु यदि परमात्मा की यही इच्छा हुई कि आपको वह हमारे बीच रहने न दें तो आप निश्चिन्तता व शांति से अपना शरीर छोड़ें, हम आपके अनुयायी कह-

लाने वाले आपके अधूरे कार्यों को दस गुना वेग व बल से चलावेंगे व आपकी आत्मा सदैव हमारा पथ-दर्शन करती रहेगी। आपके जैसे महा-पुरुष शरीर भले ही छोड़ दें, जिसने विश्व की आत्मा में अपनी आत्मा मिला दी है, वे तो अमर होते हैं और उस अमर आत्मा की प्रबल शक्ति से संसार को प्रकाश व प्रेरणा देते व पथ-दर्शन कराते रहते हैं। हम आपके बाद रोकर व किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर बैठे रहने वाले नहीं हैं;' तो वे मरने वाले होंगे तो नहीं मरेंगे व उन्हें अधिक जीने में रस मालूम होने लगेगा। अतः अपना पूरा संकल्प-बल लगाकर वे इस 'दिव्य' में से साफ पार हो जायंगे।'

जमनालालजी तो अपना हिसाब दे गये। बापूजी ने कहा—जमना-लाल दिव्य पुरुष था। अपने राम तो इसमें गौरव अनुभव करने वालों में हैं कि बापू के काल में पैदा होकर जीवित हैं, व 'नाहिं साधन, बल वचन चातुरी' मानने वालों की श्रेणी में हैं। पूज्य बापू को सन्तोष देने की क्षमता व योग्यता तो इस जन्म में आने से रही, उनके कष्ट व व क्लेश का कारण न बनें, तो भगवान् का अनुग्रह समझना चाहिए। इन भावनाओं के साथ अभी तो राजस्थान की सेवा का व्रत जारी है। जैसी भगवान् की मर्जी हो—"मालिक तेरी रजा रहे व तू ही तू रहे।"

गोस्वामीजी के शब्दों में उससे चाहना है—

'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे,
कामादि दोष-रहितं कुरु मानसं च॥

: ५० :

स्वस्ति-पाठ

अपने ये अनुभव मैंने लिख तो दिये, पर एक खयाल मन में से हट नहीं रहा है। आखिर एक अल्प-प्राण जीव के इन अनुभवों का मूल्य क्या? 'अपनी बात' होने से 'अपनी शोहरत' का आक्षेप होगा सो अलग। इसका एक ही जवाब मेरे अन्तरतम से मुझे मिलता है—तुम्हारा भाव इसे लिखने में क्या रहा है? अपनी शोहरत, या अहिंसा-प्रचार। मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि अहिंसा की महिमा का जो स्वाद मुझे मिला है, व मिल रहा है, उसे पाठकों में बांटना व उन्हें उसका चस्का लगाना ही मेरा उद्देश्य है। 'शोहरत' की आशंका के खयाल से उल्टा बीच-बीच में हतोत्साह होता रहा हूं। इसमें वर्णित घटनाएं चूंकि मेरे ही आस-पास घूमती हैं, अतः मेरे जीवन का कुछ वर्णन इसमें अनिवार्य था। फिर भी यह जीवन-चरित्र या 'आत्म-कथा' नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं कि मैं 'आत्म-कथा' लिखने में कोई बुराई मानता हूं। यही कि मेरा जीवन ऐसा महत्त्व नहीं रखता कि उसकी कोई कथा लिखी जाय। विभूतिमान्, कर्त्तव्यशाली, साधु-महात्मा, परम-पुरुषार्थी, लोग 'आत्म-कथा' लिखें या दूसरे उनके जीवन चरित लिखें तो वह उचित है। मुझमें इनमें से कोई भी गुण या शक्ति नहीं है, इसीलिए इन अनुभवों को भी पाठकों के सामने रखते हुए बहुत संकोच हो रहा है। पाठकों से निवेदन है कि वे केवल इसकी घटनाओं पर ही निगाह रखें, उन्हीं पर विचार करें व यथोचित शिक्षा लें, इसके बाद

जिसके जीवन से इन घटनाओं का संबंध है उसे न-कुछ समझकर भूल जायं।

इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि मेरा जीवन अहिंसा से ओत-प्रोत हो गया है। मुझे क्रोध आ जाता है, झल्लाहट तो कई बार आ जाती है, अभिमान भी बीच-बीच में उभरता रहता है। सारा सत्य कहने का कभी-कभी साहस नहीं होता। निराशा का प्रभाव कभी-कभी होने लगता है। दूसरे के प्रति अनुदारता भी मन में पैदा हो जाती है। ये कमियां तो ऐसी हैं जो मुझे खुद दीख जाती हैं; पर और भी ऐसे दोष या कमजोरियां हो सकती हैं जिन्हें दूसरे देख पाते होंगे। जब तक मनुष्य पूर्ण नहीं हो जाता—फिर से ब्रह्म-रूप नहीं हो जाता, तब तक उसके जीवन में दोष, त्रुटि, विकार मिलते ही रहेंगे। मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि वह जागरूक रहकर आत्म-निरीक्षण करता रहे, दूसरों की टीकाओं, आलोचनाओं, भर्त्सनाओं, निन्दाओं से लाभ उठाता रहे, जब-जब अपने विकार उभरते हों तब-तब उन्हें संयम में लाने का यत्न करता रहे। इसी से वह निर्दोषिता, सात्विकता, या आत्मिकता के मार्ग में प्रगति कर सकेगा। पठन, चिन्तन, मनन व कुछ अनुभव से मेरा यह निश्चित मत बन गया है कि मनुष्य जो कुछ आज है वह अपनी ही पूर्व-कृतियों का परिणाम है, व आगे जो कुछ होगा वह उसके वर्त्तमान कार्य-कलाप का परिणाम होगा जिसे लोग 'परिस्थिति' कहते हैं, वह भी भारी चीज है, इसमें कोई शक नहीं। पर वह मनुष्य के अपने प्रयत्न या पुरुषार्थ से भिन्न या बढ़कर नहीं हो सकती। अहंकार-युक्त पुरुषार्थ मनुष्य को उद्धत व अत्याचारी बना देता है, अहंकार-शून्य पुरुषार्थ ही उसे परम-पद तक ले जा सकता है, और उस पर प्रतिष्ठित करके ही छोड़ेगा।

अतः पाठक इसमें इतना ही देखें कि उनके जीवन को बनाने में, इन अनुभवों से कुछ फायदा मिल सकता है या नहीं। इसमें जो मेरे अवगुण दीख पड़ें वे उनके काम की चीज नहीं है। जहां तक खुद उनसे संबंध है वे उन्हें भूल जायं, क्योंकि मेरी त्रुटि या दोष उनकी उन्नति

में सहायक नहीं हो सकते। वे तो अपने ही सद्‌गुणों के बल पर आगे बढ़ सकते हैं।

सब ही सुख को पावें, सभी निर्मल हो रहें।
सब ही शुभ को देखें, कोई कहीं न हो दुखी ॥